

ॐ श्रीअंगुरु-राज्ञी जयतः ॥



सर्वोक्तुं चर्मं है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सर्व चर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।  
भक्ति अधीक्षण की अहेतुकी विनश्यन्त्र अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, त्रिम व्यर्थं सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ५ } गौराब्द ४७३, मास—माघ १, वार-कारणोदशायी { संख्या ८  
} बृहस्पतिवार, २६ पौष, सम्वत् २०१६, १४ जनवरी १९६० {

## श्रीहरिकुसुम-स्तवकम्

[ श्रीमद् रूप-गोस्वामि-विरचितम् ]

श्रीहरये नमः

गति-गजित-मत्ततर-द्विरदं	द-निनिदत-सुन्दर-कुन्द-मदं ।
मदनार्दु-रूप-मदैन-हचिं	हचिर-सिमत-मंजरि-मञ्ज-सुखम् ॥१॥
मुखरीकुत-वेणु-हृत-प्रसदं	मद-वलिगत-लोचन-ताम-रसं ।
रसपूर-विकाशक-केलि-दर्दं	परमार्थ-परायण-लोक-गतिम् ॥२॥
गतिमणिडत-यासुन-तीर-सुवं	मुखनेश्वर-बदित-चाह-पदं ।
पदकोउजवल-कोमल-कंठ रुचं	रुचकात्त-विशेषक-वलगु-तरम ॥३॥
तरंक-प्रचला-क-परीत-शाखं	शिखरीभू-धनि-पतिपञ्च-मुजं ।
भुजगोद्ध-फणाङ्गण-रंगधरं	धर-कम्बुर-खेलन-लुटव-हृदम् ॥४॥
हृदयालु-सुहृदगण-दत्त-महं	महनीय-कथा-कुल-धून-कलि ।
कलिताखिल-दुर्जर वानुहर्षं	दल-प्रलज्जव-शापक-स/जहितम् ॥५॥

हित-साशु-समीहित-इत्यत्तुं तदेहीगण-नृत्य-पुष्पशरं ।  
 शरणागत-रक्षण-दृष्टिमें तमसांधु-कुञ्जोत्पल चरणकरम् ॥६॥  
 करपद्म-मिलत् कुमुम-हतवकं वक-दानव-मत्त-करीन्द्र-हरि ।  
 हरिणीगण-हारक-वेणुकर्णं कल-कंठरवोज्जवल-कंठरणम् ॥७॥  
 रण-खयिदत्-दुर्जन-पुरणजनं जन-मङ्गल-कीचित्ताता-प्रभवं ।  
 भव सागर कुम्भ-नाम-गुणं गुण-संग-विवर्जित भवतगणम् ॥८॥  
 गणनातिग-दिव्य-गुणोत्तमिति सितरस्मि-सहोदर-प्रवत्रवरं ।  
 वरहस-वृषासुर-दावघनं घनविभ्रम-वेश-वहारमयम् ॥९॥  
 मध्य-पुत्र-तमःक्षय-पूर्णविषुं विषुरीकृत-दानव-राजकुलम् ।  
 कुल-नन्दनमत्र नमामि हरिम् ॥१०॥

उरसि परिस्फुरदिन्दिरमिन्दिन्दिर-मन्दिर-खजांलसितं ।  
 हरि-मङ्गलाति-मङ्गल सच्चन्दनं वन्दे ॥११॥

### अनुवाद—

मदमत्त गजराजकी गतिसे भी जिनकी गति अधिक सुन्दर है, जिनकी दशन-पंक्ति कुन्दपुष्पकी श्रेणिसे भी अधिक मनोहर है, जिनके अङ्गोंका सौन्दर्य करोड़ों कामदेवसे भी अधिक है एवं जिनका मुख-मण्डल मन्द-मन्द हास्ययुक्त है, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

जो वंशी-ध्वनिसे नवयुवतियोंको आकर्षण किया करते हैं, यौवन-मदके कारण जिनके नयन-कमल लाल हैं, जिनकी लीला—रस-प्रवाहको प्रकाश करती है एवं जो परमार्थ-अनुशीलनमें तत्पर भक्तोंके एकमात्र गति है, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

जिनके ध्वजा, वज्र, अंकुशादि चरण-चिह्नोंसे यमुनाकी तटभूमि भूषित है, ब्रह्मा और रुद्र आदि देवगण द्वारा जिनके मनोहर पदकमल वन्दित हो रहे हैं, जिनका कोमल करण-प्रदेश उज्जवल पद्म भूषणसे सुशोभित है एवं गोरोचना द्वारा चर्चित सिलक धारण करनेसे जिनका ललाट अतिशय मनोहर दिखलाई पड़ता है, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

जिनका चूड़ा मयुरपुच्छोंसे सुशोभित है, जो अपने बायें हाथसे गोबद्धन धारण किये हैं, जो कालिय

नागके मस्तक पर नुत्य करते हैं, गिरि-कन्द्राओंमें कीड़ा करनेके लिये जिनका चित्त सर्वदा उत्सुक रहता है, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४॥

जो अपने प्रिय बन्धु-बान्धवोंको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, जिनकी लीला-कथाओंका अवण करनेसे कलियुग-का गवं चूर्ण हो जाता है, जिनका बाहुवल सबके लिये दुर्जन्य है, जो बलराम और ब्रजके बालकोंके समीप सर्वदा विराजमान रहते हैं, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५॥

जो शरणागत भक्तजनोंकी मनोकामना पूर्ण करनेमें कल्पतरु हैं, जो युवतियोंके लिये नित्य नवीन कामदेव स्वरूप हैं, जो शरणागतजनोंकी सर्वदा रक्षा करते हैं एवं जो दैत्यबृन्दरूप कुमुद पुष्पोंको म्लान करनेमें सूर्य-स्वरूप हैं, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥६॥

फूलके गुच्छोंसे जिनके कर-कमल सुशोभित हैं, जो बकासुररूप मत्त गजराजके लिये सिंह-स्वरूप है, जो सुमधुर वंशी नादसे हरिणियोंको आकर्षित करते हैं एवं कोकिलके कलरवसे भी जिनकी कंठध्वनि अधिक मीठी है, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥७॥

जिन्होंने युद्धमें दुर्दर्शी राज्ञोंको पराजित किये हैं, जिनकी कीर्तिकलाप जगत्‌के लिये कल्याण-प्रद है, जिनके नाम, गुण और जिनकी लीला भव-भागरको सुखा डालनेके लिये अगस्त मुनिस्वरूप हैं, जिनके भक्तजन प्रकृतिके संगसे रहित होते हैं, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

जो दया-दाच्छिय आदि असंख्य दिव्य गुणावतियों से विमूषित हैं, जिनका गुख-मरडल चट्रमाकी भाँति शोभित होता है; जो अतिशय गर्वित वृषासुर रूप दावानलको बुझा देनेमें भेघ-स्वरूप हैं, जो अत्यन्त विलासी एवं विलासके उपयुक्त सुन्दर शृङ्खार कर

निकुञ्जमें विहार करनेमें तत्पर हैं, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥९॥

जो मयदानवके पुत्र व्योमासुर रूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिये पूर्णचन्द्र स्वरूप हैं, जिसके द्वारा दानव राजवंश पीड़ित हुआ है, उन स्वर्वंशको आनन्द-प्रदान करनेवाले श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१०॥

जिनके वच्चास्थल पर श्रीमती राधा विराजमान हैं, भ्रमर-समूहसे पूर्ण वैजयन्ती माला द्वारा जो सुरो-भित हैं, जो युवतियोंके अतिशय कल्याणकारी हैं, मलय-चन्दन आदि अनुलेपनोंसे जिनका श्रीअङ्ग चर्चित है, उन श्रीहरिकी मैं बन्दना करता हूँ ॥११॥

## संत (सज्जन) के लक्षण

अमानी—२०

सज्जन सभीको मान प्रदान करते हैं,  
अतएव स्वयं अमानी होते हैं ।

बैष्णव सबको मान देते हैं, परन्तु स्वयं अमानी होते हैं। साधारणतः संसारी जीव प्रतिष्ठा-लोकुप और नाना-प्रकारके अमावोंसे जर्जरित होते हैं। दूसरोंसे दान लिये विना उनकी पिपासा नहीं मिटती। बैष्णव नहीं होनेसे बैष्णवोंसे सम्मान लाभ कर बढ़ानेमें उन्हें मान प्रदानका कार्य असंभव है। परन्तु बैष्णव जिस प्रकार दूसरोंको मान देते हैं, उसी प्रकार वे स्वयं मान पानेकी आशाका भी सर्वतोभावेन परित्याग करते हैं।

बैष्णव निरभिमानी होते हैं

अनित्य संसारमें बद्धजीव नाना-प्रकारके अभिमानोंमें बँधा हुआ है। वह अपने स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंमें आत्मबुद्धि रखता है। परन्तु बैष्णव इन

दोनों मायिक शरीरोंको आत्मासे पृथक् मानकर कृपणोन्मुख होते हैं। इसलिये वे इन दोनों शरीरोंके अभिमानोंसे अर्थात् उच्च वंश, रूप और पारिंदत्य आदि प्राकृत अभिमानोंसे दूर रहते हैं स्थूल और सूक्ष्म दोनों जगत मायिक राज्यके अन्तर्गत हैं। यहाँ पर केवल अभिमान रूप अन्धकार ही अन्धकार है।

बैष्णवोंमें कृष्णदासका अभिमान होता है

अप्राकृत वैकुंठ जगतमें मायिक अभिमान नहीं होता। जहाँ हरिभक्ति विराजमान होती है, वहाँ कृष्णसनामुख्य होता है और जहाँ हरिभक्ति नहीं होती, वहाँ कृष्ण-विमुखताका साम्राज्य होता है और वही जह अभिमान जीवको बाँधनेमें समर्थ होता है। इसलिये हरिभक्तिपरायण बैष्णवजन मायिक स्थूल और सूक्ष्म अभिमानोंसे सर्वथा परे होते हैं, दूसरोंको मान देते हैं और स्वयं अमानी होते हैं। सज्जन पुरुषोंके निकट मान अतीव तुच्छ वस्तु है।

## गंभीर—२१

‘गंभीर’का विपरीत शब्द ‘चंचल’ है। मायिक जगत् नश्वर और अनित्य अर्थात् चंचल-धर्मयुक्त होता है। देह और मनकी समस्त क्रियाएँ अनित्य होती हैं। परन्तु वैष्णवजन देह और मनकी क्रियाओंसे बंधे हुए नहीं होनेके कारण अर्थात् आत्म-धर्ममें प्रतिष्ठित रहनेके कारण गंभीर होते हैं। आत्मामें विचित्रता होती है, परन्तु वह विचित्रता नित्य होती है जो स्थूल शरीर और सूक्ष्म मनके द्वारा विकार प्राप्त नहीं होती।

मायामें फँसे हुए जीव पूजा-प्रतिष्ठा और काँचन-कामिनीके लिये, स्वर्ग सुख एवं मुक्तिके लिये दिन-रात परिश्रम करते हैं—परन्तु ये सभी चीजें अस्थिर हैं। इसलिये इनकी कामनावाले कर्मी, योगी और ज्ञानी सभी अस्थिर होते हैं। भगवद्-भक्तजन यह सब कुछ भी नहीं चाहते, अतएव स्थिर अर्थात् गंभीर होते हैं—

‘भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्थान्  
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमत्तिः ।

सुक्तः स्वयं मुकुलितां तत्त्वं संवतेऽस्मान्  
धर्मर्थं कामगतयः समवशीक्षाः ॥

अर्थात् हे भगवन् ! यदि आपके चरणोंमें मेरी अचला संवा-प्रवृत्ति प्रवल रहे, तो सौभाग्यसे आपकी अप्राकृत किशोर मृत्ति मेरे हृदयमें उपास्य तत्त्वके रूपमें उद्दित होंगी। ऐसी दशामें स्वयं मुक्ति भी हाथ जोड़ कर हमारी सेवा करेगी एवं अर्थ, धर्म, काम हाथ जोड़कर हमारी आङ्गाकी प्रतीक्षा किया करेंगे।

वैष्णव द्वेषी रामचन्द्र खाँकी भेजी हुई वेश्या परमभक्त हरिदास ठाकुरकी गंभीरता नष्ट नहीं कर सकी। सार्वभौम भट्टाचार्य अनेक दिनों तक महाप्रभु-को मायावादकी व्याख्या सुनाकर भी उनकी गंभीरता नष्ट करनेमें सफल न हो सके। अतएव वैष्णवगण सदा गंभीर होते हैं।

## अभिधेय-विचार-कर्म

किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उपयुक्त उपायका अवलम्बन आवश्यक होता है। हमारे पूर्व-पूर्वके महात्माओंने प्रयोजन-सिद्धिके लिये अपने-अपने अधिकारके अनुसार नाना-प्रकारके साधनोंका आविष्कार किया है। प्रस्तुत निवन्धमें इन उपायोंके सम्बन्धमें विचार किया जायगा।

परमार्थ-सिद्धिके जितने प्रकारके उपाय बतलाये गये हैं, उन्हें तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। वे हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति।

संसार-यात्रा निर्वाह करनेके लिये जो कुछ किया जाता है, उसे ‘कर्म’ कहते हैं। कर्मके दो विभाग हैं—विधि और निषेध। अकर्म और विकर्म—ये निषिद्ध

कर्म हैं। कर्म ही विधि है। कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म और काम्यकर्म। जो सदा के लिये कर्त्तव्य हैं, वे नित्यकर्म हैं। शरीर-यात्रा, संसार-यात्रा, दूसरोंकी भलाईके कार्य, कृतज्ञता पालन और ईश्वर-पूजा—ऐसे ऐसे कार्य नित्य-कर्म कहलाते हैं। जो नित्यकर्म नहीं हैं, परन्तु किसी घटनावश सामयिकरूपमें कर्त्तव्य होते हैं, उन्हें नैमित्तिक कर्म कहते हैं। किसीके मरने पर जो कर्त्तव्य कर्म होता है वह नैमित्तिककर्म है। फलकी कामनासे जो कर्म किये जाते हैं उन्हें काम्यकर्म कहते हैं। जैसे —संतानके लिये यज्ञ आदि कर्म।

सुन्दररूपसे जीवन-यात्रा चलानेके लिये यह

आवश्यक है कि हमारे कर्म सुन्दर हों और इसके लिये यह आवश्यक है कि हमारी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक समस्त प्रकारकी विधियोंका सम्बन्ध भगवद्गतिसे हो। विवाह, नीति, दण्ड, राज्यशासन, अर्थ-संप्रदाय प्रजा-पालन आदि समस्त विधियोंको ईशा-भक्तिके साथ संयोग करना पड़ेगा। उपरोक्त विधियाँ संसारके समस्त देशोंमें किसी न किसी रूपमें अवश्य ही हृषिगोचर होगी। परन्तु भारतभूमिमें ये विधियाँ ईश्वर-भक्तिके साथ मिल कर जिस सर्वाङ्ग सुन्दर वर्णाश्रमधर्मकी पैदा की हैं वैसा संसारके किसी देशमें नहीं देखा जाता। आज-तक संसारकी किसी जातिने कर्मके सम्बन्धमें ऐसी सुन्दर व्यवस्था नहीं कर सकी है। दूसरी-दूसरी जातियोंमें स्वभावके अनुसार कार्य होता है और पूर्वोक्त विधियाँ पृथक् पृथक् रूपमें पालित होती हैं। परन्तु भारतीय आर्योंने ऐसी सुन्दर व्यवस्था की है कि पूर्वोक्त समस्त विधियाँ एक साथ मिलकर ईशा-भक्तिकी सहायता करती हैं। भारतीय आर्य ऋषियोंकी बुद्धिका कैसा अपूर्व विकाश हुआ था—विचार करने से हमारा मस्तक गर्वसे उल्लत हो उठता है। जब संसारकी दूसरी-दूसरी जातियाँ अत्यन्त असम्यवीयी, उस समय भी भारतीय आर्योंने विना किसी दूसरी जातिकी सहायतासे ही कैसी सर्वाङ्ग सुन्दर और परमआश्चर्यजनक व्यवस्थाका जन्म दिया था, जो लाखों वर्ष बीत जाने पर भी आज भी किसी न किसी रूपमें विद्यमान है। इसीलिये भारत-को कर्मभूमि कहा गया है।

ऋषियोंने देखा कि स्वभावसे ही मनुष्यका धर्माधिकार उत्पन्न होता है। इसीलिये अधिकारका विचार किये विना जो कर्मकी व्यवस्था होती है, वह कभी भी दोपरहित नहीं हो सकती है। इसलिये उन्होंने स्वभावका विचार कर उसके अनुसार ही कर्मका अधिकार स्थिर किया। स्वभाव चार प्रकारके हैं—**शृङ्खला-स्वभाव, ज्ञान-स्वभाव, वैश्य-स्वभाव और शूद्र-स्वभाव**। इन्हीं चार प्रकारके स्वभावोंके अनुसार

चार प्रकारके वर्ण बनाये गये। गीतामें भी कहा गया है—

ब्राह्मण ज्ञानिय-विशार्द्धा शूद्रानांच परन्तुप ।  
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैरुण्यैः ॥  
शामोदमस्तपः शौचं ज्ञानितराजज्ञवमेव च ।  
ज्ञानं-विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् ॥  
शौचं तेजो धूतिर्दृश्यं युद्देष्याप्तप्लायनम् ।  
दानमीश्वर-भावश्च ज्ञानकर्म स्वभावजम् ॥  
कृषि-गोरक्षा वायिक्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम् ।  
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥  
स्वे स्वे कर्मं रथयभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥  
( गीता १८।४१-४२ )

—स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार ब्राह्मण, ज्ञानिय, वैश्य और शूद्र—इन चार भागोंमें आर्योंको विभक्त करके उनके कर्मोंका विभाग किया गया है।

शम ( मनको दमन करना ), दम ( इन्द्रियोंको दमन करना ), तपः ( अध्यास ), शौच ( शुद्ध या पवित्रता ), ज्ञानि ( ज्ञान ), आर्जव ( सरलता ), ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणके नौ स्वाभावज कर्म हैं।

शूरता, तेज, धूति, दक्षता, युद्धमें निर्भयता, दान और ईश्वरभाव, ये ज्ञानियके स्वभावज कर्म हैं।

कृषि, गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्यके स्वाभावज कर्म हैं। सेवारूपकर्म शूद्रका स्वभावज है। अपने-अपने स्वभावज कर्ममें लगा हुआ मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्वभावज गुण और कर्म द्वारा वर्ण-विभाग करने पर भी ऋषियोंने देखा कि संसारी मनुष्यकी अवस्थाके अनुसार आश्रम निरूपण करना भी आवश्यक है। तब उन्होंने चार आश्रमोंकी भी स्थापना की। भ्रमणकरनेवाले विद्यार्थी—ब्रह्मचारी कहलाये; विवाहित पुरुष—गृहस्थ, अधिक आयुमें कर्मसे अवसर प्राप्त पुरुष वानप्रस्थ और सर्वत्यागी मनुष्य—संन्यासी कहलाये।

स्त्री और शूद्रोंके लिये एकमात्र गृहस्थाश्रममें

रहनेकी ही विधि दी गयी है। उन्होंने ऐसे नियम बनाये कि केवल ब्राह्म-स्वभावके पुरुष ही संन्यास महण कर सकते हैं—दूसरे नहीं। इससे उनकी महान् बुद्धि-मत्ताका परिचय पाया जाता है। इस वर्णाश्रम धर्ममें समस्त शास्त्रोंके निखिल विधि-नियेधोंको तो लिया गया है ही, अधिकन्तु युक्तिगत विधियोंको भी स्थान दिया गया है। इस छोटेसे लेखमें उन समस्त विधियोंका वर्णन करना कठिन है; अतएव इस विषयमें केवल यही कह कर मौनावलम्बन करता हूँ कि संसार-यात्राके विषयमें वर्णाश्रम-धर्म एक सर्वांग सुन्दर और परमचमत्कारपूर्ण विधि है। आर्य-मस्तिष्कसे बाहर होनेवाली समस्त व्यवस्थाओंमें वर्णाश्रम-विधि ही सबसे आदरणीय है, इसमें तनिक भी संदेश नहीं है।

दूसरे देशोंके लोग कुछ मूर्खताके कारण और कुछ इष्ट्याके कारण इस व्यवस्थाकी निन्दा करते हैं। हमारे देशके भी कुछ पाश्चात्य आवहवामें पले हुए नवयुवक इस व्यवस्थाकी निन्दा करते हैं। इसका प्रधान कारण है—स्वदेशके प्रति विदेष दूरदर्पिताका अभाव और विदेशी आचार-विचारकी अनुकरण-प्रियता भी प्रधान कारणके अन्तर्गत है।

आजकल पूर्वोक्त वर्णव्यवस्था कुछ दोषपूर्ण हो गयी है—इसमें संदेश नहीं। दूरदर्शी एवं तात्पर्यविद् विद्वानोंके अभावमें इस व्यवस्थाका पथ-प्रदर्शन सुचारू रूपमें न होनेके कारण यह कुछ भिन्न रूपमें चल रही है। इसीलिये आजकल वर्णाश्रमधर्मकी निन्दा हो रही है। वर्णाश्रम व्यवस्था सर्वथा दोपरहित है। परन्तु गलत पथ-प्रदर्शन द्वारा वह किस प्रकार निर्देष रह सकती है? सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वभावज धर्मको वंशज धर्म बना लिये जानेसे विपरीत कार्य हो रहा है। ब्राह्मणका पुत्र ब्राह्मण ही होगा, चाहे वह शूद्रस्वभावका क्यों न हो और शूद्रका पुत्र शूद्र ही रहेगा, चाहे वह कितना भी बड़ा पण्डित और शान्त-स्वभावका भी क्यों न हो। यह नियम मूल वर्णाश्रम धर्मके नितान्त विरुद्ध है।

प्राचीन रीतिके अनुसार जब सन्तान उपयुक्त

आयुका हो जाता, तब कुलके बृद्ध पुरुष, कुल गुरु, कुलके आचार्य-पुरोहित और गाँवके पण्डितजन उसके स्वभावकी परीक्षा या विवेचन करते और उसके अनुसार उसका वर्ण स्थिर करते थे। वर्ण-स्थिर करनेके समय इस बात पर विचार किया जाता था कि पुत्र अपने पिताके वर्णको प्राप्त करने के योग्य है अथवा नहीं। निसर्गवत्शतः एवं उच्चाभिलाष-जनित परिश्रमके फल-स्वरूप उच्चवंशकी संताने अधिकतर पिताका ही वर्ण लाभ करती थीं, शायद ही कभी अयोग्यताके कारण संतान पितृवर्णसे नीचेका वर्ण प्राप्त होती थी। परन्तु नीचवर्णोंके मनुष्यकी संताने उल्लिखित संस्कार के समय अनेक समय उच्च वर्ण लाभ करते थे। पौराणिक इतिहासमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण मिलते हैं। जिस समयसे यह अन्ध-परम्परा चल पड़ी है कि ब्राह्मणका पुत्र ब्राह्मण होगा, क्षत्रियका पुत्र क्षत्रिय होगा, वैश्यका पुत्र वैश्य होगा तथा शूद्रका पुत्र शूद्र होगा, तबसे उपयुक्त व्यक्ति उपयुक्त कार्य न पा सकनेके कारण आर्य-वशः रूपी सूर्य प्रायः अस्तप्राय हो चुका है। श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्धमें धर्म-शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए देवधि नारदने कहा है—

यस्य यज्ञज्ञाणं प्रोक्तं पुंसो वर्णानिव्यञ्जकं ।

यदन्यश्चापि दृश्यते तत्त्वेनैव विनिर्दिशेत् ॥

( भा० ७।।३३ )

मनुष्यके वर्णसूचक जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे लक्षण यदि दूसरे वर्णमें पैदा हुए व्यक्तिमें पाया जाय, तो उस लक्षणके अनुसार ही उस व्यक्तिका वर्ण स्थिर करना चाहिए। केवल जन्म द्वारा ही वर्ण स्थिर नहीं होता। प्राचीन ऋषियोंका स्वप्रमें भी देसा स्थान न था कि स्वभावज-धर्म क्रमशः वंशज-धर्म हो जायगा। महान् व्यक्तियोंकी सन्तान महत होती है—यह किञ्चित परिमाणमें स्वाभाविक है; परन्तु यह कदापि एक निश्चित नियम नहीं हो सकता है।

इस अधि परम्परासे जगत्‌का उद्धार करनेके लिये

स्वभावज वर्णाश्रम-धर्मकी स्थापना हुई थी; परन्तु दुर्भाग्यवश कुछ स्वार्थपर और तत्त्वज्ञान-रहित स्मात्तोंके हाथोंमें समाजका पथ-प्रदर्शन कार्य आ जाने के कारण जिस विषयकी आशंकासे ये विधान बने थे, वह आज समाजमें—वर्ण-व्यवस्थामें प्रवेश कर उसे दूषित कर रही है। आज हमारे देश हितैषियोंका कत्तव्य उसी दोषको ही निकालना है। कुछ अंशमें दोष प्रवेश करनेसे मूल व्यवस्थाको ही दूर करना बुद्धिमानीका कार्य नहीं है।

अतएव स्वदेश-हितैषी महात्माओंसे प्रार्थना है कि वे अपने पूर्वजोंकी निर्दोष व्यवस्थाओंमें फैली हुई कुरीतियों-दोषोंको दूर करें—उन्हें निर्मल बनाएँ; विदेशी लोगोंके बुरे परामर्शसे अपनी प्राचीन सद्विधियोंका लोप करनेका प्रयत्न न करें। ब्रह्मा, मनु, दक्ष, मरीचि, पराशर, व्यास, जनक, भीष्म और भरद्वाज आदि महानुभाव जिन्होंने अपने ज्ञानालोकसे संसार भरको आलोकित किया है—सही मार्ग दिखलाया है—उनकी पुण्यभूमि भारतमें पैदा होकर नयी-जातियोंवाले देशोंसे सांसारिक व्यवस्थाके विषयमें शिक्षा लेना लज्जाकी बात है; उनकी वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित कल्याणप्रद विधियोंको उलटकर पश्चात्य देशोंकी ऊपरसे चिकनी और भीतर से विषभरी आचार-विधियोंका नकल हमारे लिये बड़े दुर्भाग्यकी बात है। ऐसी दशामें वर्णाश्रम व्यवस्थाको निर्दोषरूपमें पुनः प्रचलित होने पर ही भारतकी उन्नति हो सकती है, उसकी लुप्त कीर्ति पुनः प्राप्त हो सकती है—इसमें सन्देह नहीं। ईश्वर-भाव-मिश्रित कर्मानुष्ठान द्वारा सभी आत्मकल्याणके पथ पर अप्रसर हों—वर्णाश्रिमधर्मका यही पुनीत उद्देश्य है।

उपरोक्त मूल उद्देश्यको ध्यानमें रखकर कर्मचारी परिणामोंने कर्मको ही प्रयोजन सिद्धिका एकमात्र

उपाय बतलाया है। कर्मके बिना बद्ध जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता है। जीवन-निर्वाहरूप कर्मोंको न करनेसे जीवित नहीं रहा जा सकता है। जीवनके अभावमें प्रयोजन सिद्धिका और दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतएव कर्म अपरिहार्य है।

जब बिना कर्म किये रहा नहीं जा सकता है, तब हम जिन कर्मों को करें, उन्हें भगवान्‌को अर्पण कर देना चाहिये; क्योंकि जो कर्म भगवद् अर्पित नहीं होते, वे अशुभ फल प्रदान करते हैं—

एतत् संसूचितं ब्रह्मस्तपत्रय-चिकित्सितम् ।

यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥

( श्रीमद्भा० )

कर्म अकाम होने पर भी उपद्रव ही पैदा करता है। इसलिये वह अधिकार भेदसे ब्रह्मज्ञान-योग द्वारा ईश्वरको अर्पित न होने पर अथवा राग मार्ग द्वारा भगवान्‌को अर्पित न होने पर कल्याणप्रद नहीं होता। रागमार्गका वर्णन आगे किया जायगा। अतएव समस्त कर्मोंके द्वारा परमात्माकी पूजा करनी चाहिये। परमेश्वरके प्रति कृतज्ञताके साथ कर्त्तव्यानुष्ठानको ही ईश्वर-पूजा कहते हैं। सकाम-कर्म निष्पादिकारीके लिये ही कर्त्तव्य होता है, तथापि ऐसे कर्ममें भी ईश्वर भाव मिश्रित करनेकी व्यवस्था देखी जाती है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम् ॥

( श्रीमद्भा० २।३।१० )

जो बुद्धिमान पुरुष है—वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो—उसे तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् की ही आराधना करनी चाहिये।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद डाकुर

## वैष्णव कैसे बनूँ ?

गृहीत विष्णुदीक्षाको विष्णुपूजा परो नरः ।  
वैष्णवोभिहतोऽभिज्ञैरिडोस्माद्वैष्णवः ॥

विष्णु मन्त्रसे दीक्षित होकर विष्णुकी पूजा करनेवाले व्यक्तियोंको वैष्णव कहते हैं । इसके अलावा अन्यान्य देव-देवियोंकी पूजा करनेवाले वैष्णव नहीं कहे जा सकते । अधिकारके अनुसार वैष्णव तीन प्रकारके होते हैं; कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम । साधारण बद्ध जीवोंके लिये प्रत्येक वैष्णवका अधिकार जानकर उनके अधिकारके अनुसार सेवा करनी चाहिये; नहीं तो वैष्णव-अपराध होनेका डर रहता है । वैष्णव-अपराध बड़ा भयंकर होता है । भगवान्‌के चरणोंमें यदि अपराध हो जाये तो वैष्णव जन इस अपराधसे क्षुटकारा पानेका उपाय बतला सकते हैं, परन्तु वैष्णव-अपराधसे कोई रका नहीं कर सकता है । उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है श्रीमन्महाप्रभुजीने तीन प्रकारके वैष्णवोंके लक्षण अलग-अलग बतलाये हैं—

प्रभु कहे—जार मुखे सुनि एक बार ।  
कृष्णनाम, सेहूँ पूज्य श्रेष्ठ सबाकार ॥

( चौ० च० म: १६।१०६ )

श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं कि जिसके मुखमें एक बार भी कृष्ण नाम उच्चरित होता है वह कनिष्ठ वैष्णव है और वह सबका पूजनीय है—

कृष्णनाम निरन्तर जाहार बदने ।  
सेहूँ वैष्णव श्रेष्ठ भजताहार चरणे ॥

( चौ० च० म: १६।७२ )

श्रीगौरसुन्दर कहते हैं कि जिसके मुखसे निरन्तर कृष्णनामका उच्चारण होता है, एक लक्षणके लिये भी बिना नामके नहीं रहता, वह मध्यम वैष्णव है । ऐसे वैष्णवोंकी तन, मन और वचनसे सेवा करनी चाहिये—

जाहार दर्शने सुखे आईसे कृष्ण नाम ।  
ताहार जानिये तुमि वैष्णव-प्रधान ॥

( चौ० च० म: १६।७४ )

जिनको देखनेसे स्वतः कृष्णनाम उच्चरित होने लगता है, उनको उत्तम वैष्णव समझना चाहिये ।

इस प्रकार जो कृष्णके प्रेम रंगमें रंगे हुए हैं, जो कृष्णको अपना प्राणधन समझते हैं, ज्ञानभरका नाम-से वियोग भी सहन नहीं कर पाते, वह कृष्ण जिनका कल्पके समान बीतता है, उन वैष्णवोंकी सेवा करनेसे ही हम कृष्णचन्द्रको प्राप्त कर सकते हैं । यदि ऐसे शुद्ध वैष्णवोंका सङ्ग प्राप्त हो जाये तो समझना चाहिये कि हमारे पूर्वजन्मोंकी संगृहीत सुकृति राशि-का ही यह फल है । बृहत्तारदीय पुराणमें भी कहते हैं—

भक्तिस्तु भगवत् भक्त संगेन परिजायते ।  
सत्सङ्ग प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्वसंचितैः ॥

( पु० भ१३३ )

किन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि मैं ऐसे भगवत्-प्रेममें रंगे हुए शुद्ध अकिञ्चन वैष्णवोंकी सेवाको अपने जीवनका धरतारा न बना सका । । वैष्णवोंकी सेवा करनी तो दूरकी बात है, मैंने अपने मनमें दूसरे-दूसरे लोगोंसे सम्मान पानेकी कामनाको भूषित कर रखा है । वैष्णवोंकी वाहिरी वेश-भूपा धारण कर समझ लिया है कि ‘मैं एक बड़ा वैष्णव हूँ,’ मेरे समान कोई वैष्णव नहीं है । इस प्रकार जो यह नहीं समझते कि वैष्णव कौन है और अवैष्णव कौन हैं, उन लोगोंकी सेवा ग्रहण करनेके लिये मेरे हृदयमें पीपासा उत्पन्न होने लगी । इस तरह मैं एक वैष्णव सज गया हूँ । एकान्तमें बैठ कर मैंने विचारा कि मेरे अन्दर आखिर वैष्णव बननेकी ऐसी प्रबल पिपासा क्यों हैं, तो मैंने देखा, मेरे अन्दर प्रतिष्ठा

पानेकी कामना गुप्तरूपमें वास कर रही है। इसीने मेरे हृदयमें कनक-कामिनी व पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी, वैष्णव सजनेकी उत्सुकता पैदा कर दी है। मैंने महाभागवतोंका कपट भावसे अनुकरण किया है। श्रील रघुनाथ दास गोस्यामी श्रीमतः-शिक्षामें लिखते हैं —

प्रतिष्ठाशा घृष्णा श्वपच रमणी मेहदि नटे ।

कर्त्ता साधुप्रेतः स्पृशति शुचिरेत्तत्त्वमनः ॥

हे मन ! जब तक तेरे अन्दर प्रतिष्ठाशी आशा रूपी चारडालिनी वास करेगी, तब तक तुझे किसी भी प्रकारसे शुद्ध वैष्णवोंके हृदयमें स्थित कृष्ण-प्रेम स्पर्श नहीं कर सकेगा। इसलिये हे मेरे मन ! तू उस प्रतिष्ठाशा रूपी चारडालिनीको हृदयसे निकाल दे ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कपटी वैष्णवके सम्बन्ध में बड़ा ही सुन्दर उपलब्धान है। एक दिन श्रीमन्महा प्रभुजीके अन्तर्गत भक्त श्रीहरिदास ठाकुर एक गायकके मुखसे कालीय-दमन श्रीकृष्णका गुणगान श्रवण करते करते कृष्ण-भावमें विभोर होकर 'हे कृष्ण' हे कृष्ण, बोलते-बोलते प्रेममें मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनका ऐसा भाव देखकर गायक उनके चरणोंकी धूलि अपने मस्तक पर धारण करने लगा। दर्शक भी गायकको हरिदास ठाकुरकी चरण-धूलिको सिर पर धारण करते देखकर हरिदास ठाकुरकी चरण रजको अपने-अपने मस्तको पर धारण कर अपनेको कृतार्थ मानने लगे। हरिदास ठाकुरका इस प्रकारसे सम्मान होते देखकर एक कपटी ब्राह्मणको हरिदास ठाकुरसे बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने सोचा कि ये लोग किसने मूर्ख हैं। एक पागल आदमीको इस प्रकारसे रोता देखकर उसके प्रति इतना सम्मान प्रदर्शन कर रहे हैं। मैं भी यदि इसी प्रकार झूठ-मूठका भाव दिखला कर भूमि पर गिर पड़ूँ, तो लोग मुझे भी यथेष्टु सम्मान देंगे। ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण कपट भाव प्रकट किया। आँखोंसे आँसू बहाते-बहाते पृथ्वी पर मूर्च्छित सा होकर गिर पड़ा। गायकने सब कुछ समझ

लिया। उसने ढोंगी विप्रको बड़ी मार लगानी आरम्भ की। ब्राह्मण अपने प्राणोंको बचा कर हाय ! हाय ! करता हुआ भाग गया। कपटता वैष्णवताका विरोधी है। इसीलिये इसे सावधानीसे दूर करना चाहिए।

जब तक मेरे अन्दर साधु सजनेकी बासना रहेगी, कृष्णका विमल प्रेम प्राप्त न हो सकेगा। जब तक मेरे हृदयमें प्रतिष्ठाकी कामना भरपूर है, तब तक मुझे शुद्ध साधु संग भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

जइ प्रतिष्ठाशा हमारे हृदयमें वास करके श्रीराधा-कृष्णके प्रेमसे बंचित कर देती है और मान-सम्मान के लिये हमें भिजुक बना देती है। हम प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये तरह २ के उपाय खोजने लगते हैं और इस तरह लोगोंके सामने व्यास-आसन पर बैठकर चिल्लाते हैं कि मैं एक बड़ा वैष्णव हूँ, मेरा सम्मान करो। उस समय मैं यह विचार नहीं करता कि मैं इन लोगोंको जो शिक्षा दे रहा हूँ, उसे मैं स्वयं आचरण करता हूँ या नहीं ?

साधारण अज्ञानी लोग वैष्णव वेशधारी कपटीके संगमें फँसकर शुद्ध वैष्णवोंके चरणोंमें अपराध कर बैठते हैं और नरकमें गमन करते हैं। इसलिये महा-प्रभु द्वारा बतलाये गये वैष्णव-चिह्नों व आचरणोंको देखकर सत्संग करना चाहिये।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।

अमानीना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

( शिष्यार्थक—३ )

जो अपनेको तृणसे भी दीन हीन समझते हैं, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होते हैं एवं स्वयं अमानी होकर दूसरोंको सम्मान देते हैं, वे ही सदा हरिनाम कीर्तन कर सकते हैं। उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त वैष्णवका संग करनेसे शीघ्र-से-शीघ्र श्रीराधाकृष्णका अनुपम प्रेम प्राप्त हो सकेगा।

—श्रीसत्यपाल ब्रह्मचारी

# श्रीचैतन्य-महाप्रभु

[ पूर्व प्रकाशित वर्ष ४, संस्करण ६, पृष्ठ २०३ से आगे ]

आये निमाई नवदीप गयापुरी से ।  
 लाये हमेशा हरिनाम गया पुरी से ॥  
 गाते सुगीत जन-मध्य उसी पुरी के ।  
 आये सुरंग शुचि नेह उसी पुरी के ॥४०॥

जाते हुए नवल बाग बिहान बेला ।  
 देखी निमाई ऋतुराज सुराज बेला ॥  
 फूली-फली विपट की हर एक डाली ।  
 बेला, चबेलि, रसबेलि सुगन्ध बाली ॥४१॥

छाया बसंत बन बाग तड़ाग में था ।  
 मानो अनन्त धर रूप संसार में था ॥  
 बोली मयूर पिक कीर सुहावनी थी ।  
 माया समोद जग को ठगने लगी थी ॥४२॥

बोले निमाई सबसे अब तात जाओ ।  
 शुक्लाम्बरालय सभी कल प्रात आओ ॥  
 जो नाथ आप कहते वह ही करेंगे ।  
 आजन्म साथ प्रभु का हम ना तजेंगे ॥४३॥

शुक्लाम्बरालय सभी परभात छाये ।  
 रागान्विता सुधुनि से सब गीत गाये ॥  
 हे कृष्ण, हे नवल श्याम ! कहाँ गये हो ?  
 हे प्रान-ताप-हर-नाथ ! कहाँ गये हो ? ॥४४॥

गाते हुए सरस राग सराग होके ।  
 सोये सभी धरणि पै गत होश होके ॥  
 जागे परन्तु मन मध्य अशान्ति पाइ ।  
 आये तुरन्त गृह को पंडित निमाई ॥४५॥

श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण कहते सत-सार-वाला ।  
 खोली स्वमातु सुख-साधक पाठशाला ॥  
 छूटा वही जगत से जिन गीत गाया ।  
 ऐसा विचार प्रभु ने सबको पाढ़ाया ॥४६॥

( क्रमशः )

— श्रीशङ्करलाल चतुर्वेदी एम० ए०; साहित्यरत्न

# उपनिषद्-वार्णी

## प्रश्नोपनिषद्

शान्ति फठ—

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रुणुथाम देवा  
भद्रं पश्येमा च भिर्जग्राः ।  
स्थिरेरङ्गे स्तुष्टु वांसस्तनूभिः  
व्यशेम देवहितं वदायुः ॥

गुरुगृहमें अध्ययन करनेवाले शिष्य सहपाठियोंके साथ अपना तथा मानवमात्रका कल्याण चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं—हे देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ अर्धांत् कल्याणकारी वचन ही सुने । निन्दा चुगली या पापकी बातें हमारे कानोंमें न पढ़ें । हमारा जीवन सदा यजन-परायण हो— हम सदा भगवानकी आराधनामें ही लगे रहें । आँखोंसे भी कल्याणका ही दर्शन हो, किसी अमंगलकारी हृश्यकी ओर हमारी हष्टि न पढ़े । हमारा शरीर, हमारा एक-एक अँग सुट्ट और सुपुष्ट हो । हमारी आयु भोग-विलासमें न बीते । हमारी आयु ऐसी हो जिससे हम भगवानकी सुति कर सकें, भगवान्की सेवा कर सकें ।

प्रश्नोपनिषद् अर्थवेदके पिप्पलाद् शाखीय ब्राह्मण-भागके अन्तर्गत है । इसमें पिप्पलाद् ऋषिने सुकेशा आदि छः ऋषियोंके छः प्रश्नोंका उत्तर दिया है । इसलिये इस उपनिषद्का नाम प्रश्नोपनिषद् है ।

भरद्वाजके पुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्ग गोत्रमें उत्पन्न सौर्यायर्णी, कंशलदेश-निवासी आश्वालायन, विदर्भदेशीय भार्गव एवं कल्यके प्रपोत्र कबन्धी—ये वेदाभ्यास परायण और ब्रह्मनिष्ठ थे । एक बार ये छहों ऋषि ब्रह्म-उत्त्वकी जिज्ञासाके लिये अपने-अपने हाथोंमें समिधा लेकर महर्षि पिप्पलादके पास गये । उनको परब्रह्मकी जिज्ञासाके लिये अपने

पास आया देखकर महर्षिने कहा—‘तुमलोग तपस्वी हो । तुमने ब्रह्मचर्य धारणकर साङ्घोपाङ्ग वेद भी पढ़े हैं, तथापि मेरे आश्रममें रह कर और एक वर्ष तक श्रद्धा-पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तपश्चर्या करो । उसके बाद मुझसे इच्छानुसार प्रश्न करना । यदि मुझे तुम्हारे पूछे हुए विषयका ज्ञान होगा, तो उसे तुम्हें भलीभाँति बतलानेका प्रयत्न करूँगा ।’

पहला प्रश्न—महर्षि पिप्पलादकी आज्ञा पाकर उन्होंने एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए आदर्श त्यागमय जीवन चिताया । उसके बाद वे लोग पिप्पलाद् ऋषिके पास गये तथा उनमेंसे कवन्धी ऋषिने सबसे पहले अद्वापूर्वक पूछा—‘भगवन् ! जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना-प्रकारसे उत्पन्न होते हैं, वह सबका कारण-स्वरूप कौन है ?’

महर्षि पिप्पलादने उत्तर दिया—‘वेदोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण चराचर जगतके स्वामी परमेश्वरने सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छासे तप किया । तपस्याके पश्चात् उन्होंने सर्व प्रथम रथि और प्राण—इन दोनोंका जोड़ा उत्पन्न किया । उन्होंने सोचा, ये दोनों मिलकर नाना-प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे । इस मंत्रमें समस्त प्राणियोंकी जीवनी शक्ति-को ‘प्राण’ और स्थूल भूत-समुदायको ‘रथि’ कहा गया है । इनका दूसरा नाम ‘पुरुष’ और ‘प्रकृति’ भी है । सम्पूर्ण हृश्य जगत रथि और प्राणके संबोगसे ही उत्पन्न है । यह सूर्य, जो हमें प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, यही प्राण है । क्योंकि इसमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली चेतना-शक्तिकी प्रधानता और अधिकता है । उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही ‘रथि’ है; क्योंकि इसमें स्थूल तत्त्वोंको पुष्ट करनेवाले तत्त्वोंकी ही

अधिकता है। हमारे स्थूल शरीरका पोषण चन्द्रमा द्वारा ही होता है। हमारे शरीरमें ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अंग-प्रत्यंगमें व्याप्र हैं। उनमें जीवनी शक्ति-का सम्बन्ध स्युर्यसे है और मांस, मेद आदि स्थूल तत्त्वोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे है।

रात्रिके बाद जब सूर्य पूर्व दिशामें अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वह समस्त प्राणियोंके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है। सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाकर प्राणियोंमें नवीन स्फुर्तिका जागरण होता है। इसलिये सूर्य ही समस्त प्राणियोंके प्राण-स्वरूप हैं। प्राणियोंके शरीरमें जो 'वैश्वानर' नामक जठरानिन है, वह सूर्यका ही अंश है तथा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँच भागोंमें विभक्त प्राण भी सूर्यका ही अंश है। अतः सूर्य ही प्राण-स्वरूप हैं। किरणजालमें मणिङ्गत यह सूर्य ही विश्वके समस्त स्पंडोंका केन्द्र है। मभी प्रकारके रङ्ग सूर्यसे ही उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। यह सूर्य ही सबका उत्पत्तिस्थल है और यही जीवन-ज्योतिके मूलाधार हैं। सूर्य हमारे सैकड़ों प्रकारके कार्य सिद्ध करते हैं। जगत्‌में उषणा त्रिवेत्तुना, प्रदान करना, प्रकाश फैलाना, सबको जीवन दान करना, ऋतुओंका परिवर्तन करना आदि हमारे सैकड़ों आवश्यक कार्योंको पूर्ण करनेके कारण सूर्यको जीवन-दाता और प्राण-स्वरूप कहा गया है।

बारह महीनोंयाला काल—प्रमदत्तरको सृष्टि-कर्ता या अजायतिका स्वरूप कहा गया है। इसके दो अयन हैं—उत्तरायन और दक्षिणायन। दक्षिणायनके छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणकी ओर घूमता है और उत्तरायन के छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर घूमता है। उत्तरायनके छः महीने उत्तर अङ्ग है तथा दक्षिणायनके छः महीने दक्षिण अङ्ग है। इनमें से दक्षिण अंगको 'रथि' और उत्तर-अङ्गको 'प्राण' कहते हैं। इस संसारमें जो भोगोंमें आसक्त व्यक्ति हैं, वे यज्ञादि द्वारा देवताओंकी पूजा करना, धन आदि द्वारा ब्राह्मणोंका सत्कार करना, दुखी-प्राणियोंका उपकार करना, कुँआ, तालाब, बगीचा, धर्मशाला,

विद्यालय, औपधालय आदि लोकोपकारी पूर्तीकर्मोंको श्रेष्ठ समझते हैं और इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे इनका विधिवत अनुष्ठान करते हैं। ईशावास्य उपनिषद्‌में इस दक्षिण अंगकी उपासनाको असंभूतिकी उपासना कहा गया है। इसके द्वारा वे चन्द्रलोकमें गमन करते हैं तथा वहाँ कुछ समय तक अपने कर्मोंका कर्त भोग कर पुनः इस लोकमें लौट कर जन्म प्राप्त करते हैं। इसीको पितृयान या धूम्रयानका मार्ग कहते हैं।

पूर्वोक्त सर्वाम उपासकोंसे भिन्न जो यथार्थ कल्याणकारी साधक होते हैं, वे सांसारिक भोगोंकी लगभग गुरता और दुःखहपताको समझ कर इनसे सर्वथा विरक्त हो जाते हैं। वे अद्वापूर्वक ब्रह्मचर्य-का पालन करते हुए त्यागमय जीवन विताते हैं तथा परमात्माको प्राप्त करनेकी आशासे अनुकूल साधनोंके द्वारा निष्काम उपासना करते हैं। यही संवत्सरके उत्तर अंगकी उपासना है। ईशावास्य उपनिषद्‌में इस उपासनाको संभूतिकी उपासना कहा गया है। निष्काम उपासक इसी उत्तरायन मार्गसे सूर्यलोक गमनकर परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। इसीका नाम देववान् है। यही परमागति है। इसको प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

इस सूर्यके विषयमें कितने ही तत्त्ववेशा तो ऐसा कहते हैं कि इनके पाँच पैर हैं ( छः ऋतुओंमें से हैमन्त और शिशिर—इन दो छः ऋतुओंको एक मान कर सूर्यके पाँच चरण ) और बारह महीने ही इनकी बारह आकृतियाँ हैं। इनका स्थान स्वर्गलोकसे भी ऊँचा है; क्योंकि सूर्य स्वर्ग लोकसे भी प्रशाशित करते हैं। इस लोकमें जो जल वरसता है, वह सूर्य-से आता है। अतएव सबको जलरूप जीवन प्रदान करनेवाला होनेसे सूर्य सबके पिता हैं। दूसरे ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि लाल पीले आदि सात रङ्गोंकी किरणोंसे तथा छः ऋतुओंसे युक्त प्रकाशमय सूर्य-मण्डल सात चक्र एवं छः अरांवाला रथ है, उसमें सूर्य देवकी स्थिति है। इन सूर्य देवके आत्मस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर ही सबके उपास्य हैं। वे सूर्यके भी

उपास्य हैं। अंतरायणके ध्यान-मंत्रमें भी ऐसा देखा जाता है—“ध्येयः सदा सवितुमरडल-मध्यवर्ती नारायणः” इत्यादि।

बारह महीने प्रजापति हैं। इनमेंसे प्रत्येक महीने-के दो अङ्ग हैं—कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। कृष्ण-पक्षको दक्षिण अंग और शुक्लपक्षको उत्तर अंग कहा गया है। कृष्णपक्षको ‘रथि’ और उत्तरपक्षको प्राण-स्वरूप बतलाया गया है। कल्याणकामी पुरुष रथि स्थानीय भोग-पदार्थोंसे विरक्ष होकर प्राण-स्थानीय शुक्लपक्षमें ही समस्त शुभ कर्मोंका निष्काम भावसे अनुष्ठान करते हैं। इनके अतिरिक्त भोग-सक्त व्यक्ति स्थूल और अनित्य भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये कृष्णपक्षमें ही सब प्रकारके कर्म किया करते हैं। यहाँ दिन और रातके चौबीस घंटेके कालको प्रजापति मान कर दिनको ‘प्राण’ और रात-को ‘रथि’ कहा गया है। जो मनुष्य दिनमें स्त्री-संभोग करता है, उसका अमूल्य जीवन व्यर्थ जाता है। इसके विपरीत यदि कल्याणकामी गृहस्थ व्यक्ति शास्त्रके नियमानुसार उत्तुकालमें रात्रिके समय केवल संतान उत्पन्न करनेके लिये ही स्त्री-संभोग करते हैं, तो वे ब्रह्मचारी ही हैं।

अन्न द्वारा समस्त प्राणियोंके जीवनकी रक्षा होती है, क्योंकि अन्नसे वीर्य बनता है और वीर्यसे समस्त प्रकारके प्राणियोंका जन्म होता है; इसलिये अन्नको भी प्रजापति कहा गया है।

जो संतान-जन्यस्त्रियोंकी कामनासे प्रजापति-ब्रतका अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् शास्त्रविहित स्त्री-प्रसंग आदि करते हैं, वे पुत्र और कन्या रूप जोड़ेको उत्पन्न कर प्रजा बुद्धि करते हैं। इनसे भिन्न जो ब्रह्मचर्य और तप आदि कार्योंमें निष्ठावाले पुरुष हैं, वे सत्य स्वरूप परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। जिनमें कुटिलताकी गंध नहीं है, जो स्वप्नमें भी मिथ्या भाषण नहीं करते, जो असत्य आचरणसे सर्वथा दूर रहते हैं और जो राग-द्वेषसे रहित हैं, वे ही विकाररहित विशुद्ध ब्रह्मलोकके अधिकारी हैं। श्री-मद्भागवतमें भी कहा है—

येषां स एव भगवान् इयेदनन्तः  
सर्वामनाश्रितपदो यदि निर्वलीकम् ।  
ते दुस्तरामति तरन्ति च देवमाया  
नैषां ममाहमितिवीः श्व-शृगाल-भच्ये ॥

( श्रीमद्भागवत-२०।४२ )

अर्थात् भगवान् अनन्त देव ही ( उनसे भिन्न देवता नहीं) जिसके प्रति कृपा करते हैं, वे यदि निष्कप्त होकर तन, मन और वचन—सब प्रकारसे ( धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामनासे रहित होकर ) भगवानके चरणोंमें शरणागत हों, तो भगवानकी दुस्तरा दैवी मायाको पार कर सकते हैं तथा माया का वैभव भी जान सकते हैं। ऐसे शरणागत भक्तोंका कुर्ज और शृगालके भव्य इस स्थूल पाँचभीतिक शरीरमें ‘मैं और मेरा’ की बुद्धि नहीं रहती।

**दूसरा प्रश्न—**कथम्भीके पश्चात् भार्गव ऋषिने महापि पिपलादसे तीन बातें जिज्ञास की—  
( १ ) प्राणियोंके शरीरको धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं? ( २ ) उनमेंसे कौन-कौन इसको प्रकाशित करनेवाले हैं? ( ३ ) उनमें श्रेष्ठ कौन है?

महर्षि पिपलाद बतला रहे हैं—सबका आधार-स्वरूप आकाश है, उससे उत्पन्न वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँचभूतोंसे स्थूल शरीर उत्पन्न है, इसलिये ये ही शरीरको धारण करनेवाले देवता हैं। वाणी, पाद, पाणि, उपस्थ और गुदा—पाँच कर्मनिद्रियाँ; नेत्र, कर्ण, नासिका, जिहा और त्वचा—पाँच ज्ञानेनिद्रियाँ तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चिन्ता—चार अन्तःकरण—कुल चौदह देवता शरीर के प्रकाशक हैं। ये देवता शरीरको धारण और प्रकाशित करते हैं।

एक बार शरीरके प्रकाशक चौदहों देवता शरीर-को प्रकाशित कर परस्पर भगवाने लगे और गर्वसे परस्पर कहने लगे कि ‘मैंने ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण कर रखा है।’ इनको इस प्रकार भगवाने देख कर इनमें सर्वश्रेष्ठ प्राणने कहा—‘तुमलोग

अज्ञानवश विवाद क्यों कर रहे हो ? तुमसें से इसी-में भी इस शरीरको धारण करनेकी शक्ति नहीं है। तुम कोई भी इसकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो। इसे तो मैंने अपनेको प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँच भागोंमें विभक्त करके आश्रय प्रदान करते हुए धारण कर रखा है।' प्राणकी बात सुन कर भी उस पर उन देवताओंको विश्वास नहीं हुआ। वे पूर्ववत् भगवान्ते रहे। ऐसा देख कर प्राण अपना प्रभाव दिखलानेके लिये शरीरसे बाहर निकलनेका उपकरण करने लगे। फिर तो सब-के-सब विवश होकर उसी प्राणके साथ बाहर निकलने लगे। जब प्राण पुनः अपने स्थान पर स्थित हो गया, तब अन्य इन्द्रियाँ भी अपने-अपने स्थान पर स्थिर हुईं। जैसे मधुमक्खियोंका राजा जब अपने स्थानसे उड़ जाता है, तब उसके साथ बैठी हुई सभी मधु-मक्खियाँ भी उड़ जाती हैं और राजा जहाँ बैठता है, वहीं दूसरी मधुमक्खियाँ भी बैठती हैं, वैसी ही दशा उन सब बागादि देवताओंकी हुई। उनका गर्व न्यूर्ण हो गया। अब उन सबको विश्वास हो गया कि प्राण ही उन सबमें श्रेष्ठ है। ऐसा जानकर वे सब स्तुति करते हुए बोले—'यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और सूर्य रूपसे उक्ताप प्रदान करता है। यही मेघ, इन्द्र और वायु है। यही पृथ्वी और रथि, सत और असन् एवं सर्वश्रेष्ठ देवता परमेश्वर है। जिस प्रकार रथके पहिएकी नाभीमें लगे हुए और नाभिके आश्रित रहते हैं उसी प्रकार ऋक्, यजुः, सामादि वेद, उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञादि शुभ, कर्म, और इनके अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारी वर्ग—ये सभी प्राणके आश्रित हैं। हे प्राण ! तू ही प्रजापति

है, तू ही गर्भमें विचरण करनेवाला एवं संतानके रूप-में जन्म लेनेवाला है। समस्त प्राणी उपहार द्वारा तुम्हें ही पूजते हैं। तू ही अपान आदिके सहित शरीरमें स्थित है। तू देवताओंमें हृषि वहन करनेवाला अग्निदेव है, पितरोंमें तू ही स्वधा है, अथवा इन्द्रस आदि ऋषियोंके द्वारा आचरित सत्य भी तू ही है। तू सब प्रकारके तेजसे सम्बन्ध त्रिलोकाधिपति इन्द्र है और तू ही सत्यका संहारक रुद्र है। सबका रक्षक भी तू ही है। तू अन्तरीक्षमें विचरण करनेवाला वायु है, अग्नि है, चन्द्र है, तारा है और तू ही समस्त ज्योतियोंका पति सूर्य है। तू मेघरूपसे पृथ्वीपर जल वरसाते हो, जिससे इम लोगोंके जीवन निर्वाहके लिये अन्न पैदा होता है। तू संकार-रहित होकर भी सर्वश्रेष्ठ ऋषि है; क्योंकि तू स्वभावतः शुद्ध है। तू सबको पवित्र करता है। इम तुम्हे नाना प्रकारकी भोजन-सामग्रियाँ अपूरण करते हैं, जिन्हें तू भोजन करता है। तू ही विश्वका स्वामी और पिता है। तुम्हसे ही हमारा जन्म हुआ है। हे प्राण ! तू शान्त हो जा। शरीरसे निकलकर बाहर न जा। यही हमारी प्रार्थना है। प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस लोकमें अथवा स्वर्ग लोकमें जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी प्राणके ही अधीन हैं। जिस प्रकार माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है उसी प्रकार, हे प्राण। तू भी हमारी रक्षा कर तथा हमें कार्य करनेकी शक्ति और ज्ञान प्रदान कर।

इस द्वितीय प्रश्नके उत्तरका तात्पर्य यह है कि प्राणरूपी परमेश्वर ही समस्त देवताओंके भी देवता है और वे ही सम्पूर्ण जगतको धारण और पोषण करते हैं।

—ग्रिदग्निः स्वामी श्रीमद्भवित भृदेव श्रौती महाराज

# पापका परिचय और उसकी सीमा

[ पूर्व-प्रकाशित चर्चा ६, संख्या ३, अप्रैल ७२ से आगे ]

हमारा पांचमींतिक मूल शरीर तथा मन, बुद्धि, अहंकारात्मक सूखम् शरीर ये दोनों मायिक उपादानोंसे ही गठित हैं। इनलिये इन पर हमारा अधिकार नहीं। हम मकानके बिरायेदार हैं; मकान मालिक नहीं, हम भोजन, शयन और औपचि प्रयोग द्वारा कुछ हद तक इस भौतिक शरीरकी रक्षामें सहायक तो होते हैं, परन्तु अन्त तक शरीर पर प्रकृतिका ही नियन्त्रण प्रधान रूपमें देखा जाता है। शरीरका प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग आधिदैविक कर्त्त्वके अधीन है और तो क्या, हमारे पतकोंका गिरना भी प्रकृतिके अधीन होता है। प्रकृतिके नियमोंको बदला नहीं जा सकता। आजकल चड़े-चड़े वैज्ञानिक प्रकृतिके नियमोंको बदलनेके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु केवल ध्वंस ही हाथ लग रहा है। यह भी एक प्रकारसे मायाका ही व्यापार है। ऐसा करना भी पाप ही है। क्योंकि यह कार्य आर्थिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारके कल्याणोंका बाधक है।

मनुष्यका एक मात्र कर्त्त्व है—मायाके नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त करना। यदि हम मनुष्य जीवनमें मायाके नियन्त्रणसे बाहर न हो सके, तो हमें जन्म-जन्मान्तर तक पुनः मायाकी अधीनतामें सुख-दुःख भोगना पड़ेगा। जड़-विज्ञानका उद्देश्य है—हमारे विषय-भोगोंकी बुद्धि करना, जो तत्त्वदर्शी महात्मा-की हृषिमें भवरोगकी बुद्धि है। संसार-भोग या विषय-भोगका कारण है—पूर्व संप्रहीत पाप। अतएव जड़-विज्ञान भी पाप ही है, यदि उसका लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति तक ही सीमित रहे।

यद्यपि समस्त कार्योंका साधन और नियमन प्रकृति द्वारा होता है, तथापि सुख-दुःखरूप फल-भोगका कारण स्वयं जीव ही है। भौतिक शरीर धारण

करना ही त्रिताप-यन्त्रणाका मूल कारण है। जीव किस प्रकार अपने पापोंसे स्वयं बँध कर त्रिताप-यन्त्रण भोग करता है, इसे निम्नलिखित उदाहरणसे समझा जा सकता है।

सरकार सबके कल्याणके लिये समानरूपमें कुछ विधि-विधान प्रस्तुत करती है। परन्तु इन कल्याणकारी विधानोंके विद्यमान रहते हुए भी कोई-कोई अपने अन्याय-आचरणके कारण पुलिस द्वारा पकड़ा जाकर जेलमें बन्द कर दिये जाते हैं। अतएव जिस प्रकार कल्याणकारी राष्ट्र-विधानोंके रहते हुए भी अनुष्य अपने दुष्कर्मोंके कलस्वरूप जेल-जीवनका दुःख भोग करता है, उसके लिये राज्य-परिषद् उत्तर-दायी नहीं है। राज्य-परिषद् अपराध करनेमें प्रोत्साहन नहीं देता, वरन् अपराध न हो, इसके लिये विशेष प्रत्यनशील रहती है। इसके अतिरिक्त प्रजा नुखी रहे, इसके लिये शिक्षा, कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय विज्ञान, आदि की भी व्यवस्था करती है। यह सब कुछ होते हुए भी लोग क्यों दुःख पाते हैं? बन्दी क्यों होते हैं?—इस पर विचार करना चाहिये। सिद्धान्त यह है कि राज्य-विधानके द्वारा नियन्त्रित होने पर भी राज्यका प्रत्येक व्यक्ति कोई भी कर्म करनेके लिये स्वतन्त्र है। परन्तु फल भोगनेमें परतन्त्र है। यदि कोई राज्य-परिषद् के नियमोंको भङ्ग कर अपराध करता है, तो उसे उसका दुष्परिणाम भोग करना पड़ता है। इसीलिये पुलिस और अदालतकी तथा जेलोंकी व्यवस्था है। उसी प्रकार प्रकृतिने हमारे सुखके लिये अनेक प्रकारके नियम बना रखा है। हम उयोंही प्रकृतिके नियमोंको भङ्ग करते हैं, प्रकृति हमें दखल देती है, त्रितापादि दुःखोंसे जर्जरित करती है। अतएव मनुष्य अपने सुख-दुःखका ज्ञान स्वयं है। प्रकृति केवल मात्र उपादान कारण है।

नाना प्रकार पापकर्मोंके कारण ही हमलोग नाना प्रकारके मुख-दुःख भोग करते हैं। अज्ञान ही पापकर्मोंकी जड़ है। अज्ञानका दूसरा नाम रजस्तमो गुण है। इस रजस्तमोगुणके अधीन होकर हम जितना ही अधिक कर्म करते हैं, उतना ही अधिक हम पापकार्यमें लिप्त होकर दुःख-जालमें फँसते जाते हैं। भौतिक - जीवनकी यही शेष परिणति है। रजस्तमो गुण द्वारा हम प्रकृतिके चंगुलमें जिस प्रकार फँस जाते हैं, नीचेके उदाहरणसे स्पष्ट किया जाता है। 'सोभियत लैण्ड' नामक पत्रिकामें लिखा गया है—

'विश्व-बद्धारण्डकी सृष्टिके प्रारम्भसे ही सूर्य हमें प्रचुर परिमाणमें ताप प्रदान करते आ रहे हैं। यदि हम सूर्यके इस तापका उचित रूपमें व्यवहार करें तो हम पृथ्वीका रूप ही दूसरे रूपमें बदल सकते हैं। परन्तु आज तक भी मनुष्य सूर्य तापको सही-रूपमें अपने काममें नहीं लगा सका है। प्रकृतिने सूर्य तापको कुछ अंशोंतक काममें लगाया है; जैसे सूर्य-तापके द्वारा हम प्रकृतिगत ईंधन, सूखी लकड़ी, कोयला, किरासन तेल आदि नाना प्रकारकी आवश्यकीय वस्तुएँ पाते हैं। जावेके दिनोंमें आदिवासी अपने अज्ञोंको गर्म करते हैं, कृषिके समय अपने गेहूँ धान आदिके बीजोंको सुखाते हैं। परन्तु हमें यह विचार करना आवश्यक है कि इतना होने पर भी हम सूर्य-तापके सौ भागमेंसे केवल एक भागको ही उपयोगमें ला रहे हैं, शेष ६६ भाग व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।'

जिस दिनसे पृथ्वी पर मनुष्यकी सृष्टि हुई है, उसी दिनसे वह सूर्य-तापको अपने काममें लगानेके लिये चेष्टा कर रहा है। परन्तु अनेक चेष्टा करके भी वह इस दिशामें अधिक सफल नहीं हो सका है। वैज्ञानिक युगमें प्रवेश करते ही मनुष्यने सूर्य-तापको अपने कार्यमें लगानेके लिये बड़े जोरोंसे अनुसंधान करना आरभ किया है। बड़े सौभाग्यकी बात है कि मनुष्यका यह पुराना स्वप्न आज व्यवहारिकरूप धारण करने जा रहा है—सोवियत रूसके राज्यमें।'

उपरियुक्त संवादके उदाहरण द्वारा हम यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि मनुष्यमें प्रकृतिको भोग करनेकी इच्छा नितनी प्रवृत्त हो उठी है। वह सूर्य-तापसे जलाचन (सूखी लकड़ी), खनिज पदार्थ, तेल आदि, आदिके उत्पादनमें, वायुको गति नियंत्रित करनेमें तथा जावेमें शरीरको ताप प्रदान आदि नाना प्रकारके कार्योंमें उभयोग कर भी संतुष्ट नहीं हो पा रहा है। वरन् वह इसके लिये और भी अधिक प्रयत्नशील है कि सूर्य-तापको अधिकसे अधिक रूपमें अपने पार्थिव-मुख्यमें कैसे नियुक्त करे। अथव रजस्तमो गुण द्वारा इस प्रकृतिको भोग करने की इच्छा ही जीवका पापबीज है। पापबीजका ताप्त्व दुःखके मूलकारणसे है। हमने पहले ही बतलाया है कि भगवानकी सेवा भूल कर मायाको भोग करनेकी इच्छा ही जीवका अज्ञान है। यह अज्ञान ही—पापबीज ही सारे अन्योंची मूलजड़ है।

हमारा कथन यह नहीं है कि मनुष्य प्राकृत-विज्ञानसे मुख मोड़ ले। परन्तु हम केवल इतना ही चाहते हैं कि प्रकृति-भोग और पापकार्य-त्याग—दोनों कार्य एक साथ नहीं चल सकते। क्योंकि ये साधारण हृषिमें एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत दीख पड़ते हैं। परन्तु एक उपाय है। वह यह कि भगवन् सेवाके प्रति सर्वदा उन्मुख रह कर यदि हम यथायोग्य प्रकृतिका भोग करे, तो हम पापकार्योंसे क्लूट-कारा प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा हम भगवानकी दुरस्थया मायाके जालमें अधिकाधिक फँसते जायेंगे। यथायोग्य भोग ही प्रकृतिका विधान है। प्रकृतिके राज्यमें अफुरंत ऐश्वर्य विद्यमान रहने पर भी हमें उसका भोग करनेके लिये व्यष्ट नहीं होना चाहिए। पापसे बचनेका केवल यही एक राम्ता है। समुद्रमें अफुरंत नमक है। नमक हमारे लिये परम आवश्यकीय द्रव्य है। परन्तु हम उस अफुरंत नमकका पूर्ण रूपमें भोग करनेमें समर्थ नहीं हैं। अथव नमकके बिना हम रह भी नहीं सकते। ऐसी दशामें अपनी आवश्यकतानुसार जीवन धारणापयोगी नमक लेना ही बुद्धिमानीका कार्य है। यही प्रकृतिका नियम है।

इस नियमका उलझन कर जो अधिक नमक व्यवहार करनेका प्रयास करेगे, उनको दुःखका सामना बरना पड़ेगा ही। और दूसरी तरफ, जो आवश्यकतामें अल्प प्रदण करेंगे वे भी विपक्षिमें पड़ेंगे। इसलिये न अधिक, न थोड़ा, परन्तु जीवन-निर्वाहीप्रयोगी यथा योग्य विषयोंको प्रकृतिसे प्रदणकर प्रकृति के कठिन विधानसे मुक्ति प्राप्तकर हमें भगवत् राज्य में लौट जानेकी चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा न कर हम यदि केवल अपने शारीरिक सुख-भोगके लिये संग्रहका मन्थन कर नमकपे नाना प्रकारके रासायनिक पदार्थोंके लानबीनमें ही दुर्लभ मनुष्य जीवनको बिता दें, तो उसमे हम मानव-जन्मको व्यर्थ ही गवाँ दिया। मनुष्य जीवनमी सार्थकता है—जन्म-मृत्युके चक्करमे छुटकारा प्राप्तकर भगवत्-सेवा प्राप्ति। यदि हम मनुष्य जीवनको अनित्य और आपात् सुख-कर जड़-विषय भोगोंके अनुसंधान और भोगमें ही गवाँ दिया तो हम मनुष्य न होकर पशु बन गये। ऐसे कर्मसे हम अपने धर्म और अमंगलको और भी अपने निकट बुलाने हैं।

आत्मस्वरूपको भूल कर जीव जिनने ही अधिक परिमाणमें प्रकृतिको भोग करनेकी चेष्टा करता है, उतने ही अधिक परिमाणमें वह भगवानसे विमुख होकर पापाचरणमें प्रवृत्त होता है तथा धर्मके पथ पर अप्रसर होता है। भौतिकवादकी सीमाको परिवर्द्धन करनेका अर्थ है—पापकी सीमाको परिवर्द्धन करना। भोगवाद और पाप प्रवृत्तिके सम्बन्धमें गीताका विचार यह है—

जो बहिरंगा मायाकी मोहनी मूर्तिके प्रति आकृष्ट होकर प्रकृतिका भलीभाँति भोग करनेके लिये प्रयत्नशील हैं, वे प्रकृतिके बाह्य रूपमें इतने मुख्य हो जाते हैं कि वे इसे छोड़ कर परम-ब्रह्म भगवान शोकणको तच्चतः जान नहीं पाते।

बद्धजीव जन्म-जन्मान्तरोंकी भोग-प्रवृत्तिके कारण भौतिक उपकरणोंका अधिकसे अधिक भोग करनेके लिये अधिकाधिक पाप कार्यमें प्रवृत्त होता है। इसके

लिये वह पृथ्वीके अथवा प्रकृतिके बाह्य रूपको बदल देनेकी चेष्टा करता है। परन्तु इन बहिमुखी चेष्टाओं के फल-स्वरूप वह प्रकृतिसे अधिकाधिक दुःख ही प्राप्त होता है। किरभी प्रकृति द्वारा मोहित मूढ़ मनुष्य कुछ समझ नहीं पाता, वह और भी अधिक पाप कार्यमें प्रवृत्त होकर नरकका पथ परिष्कार करता है।

आधुनिक बुद्धिके ठीकेदारोंकी हस्तिमें जब भारत अधिक सभ्य नहीं था अथवा जब अधिक असभ्य था (१), हम उसी समयकी बात कर रहे हैं। उस समय भारतीयोंके घरमें गोधन था, घर-घरमें अल्पका भरण्डार था। गाँवोंके लोग थोड़े ही परिश्रमसे प्रचुर मात्रामें अन्न पैदा करते एवं गोधन द्वारा प्रचुर मात्रा में दूध, दही, घी, मक्खन आदि पाते थे। वे इन शुद्ध पदार्थोंका संबन्ध वह बहुत जीवन-चिताते थे। छः महीने परिश्रम कर पूरे वर्षका आहार संप्रह करते थे। बचे हुए छः महीने समयका वे अप-व्यवहार नहीं करते थे। वे उस समय भगवत्संवधारी उत्सवों और पर्वोंका अनुद्धान कर सामाजिक, व्यक्तिगत, लौकिक और पारलौकिक कल्याणके साधनमें तत्पर रहते थे। अभी बहुत दिन नहीं हुए, मुसलमानी राज्यमें भी ( शायत्ना वाँके समयमें ) एक रूपयेमें नौ मन चावल विक्री था। और आज कल—जिस दिनसे गान्धीजी वैज्ञानिक शिक्षाका विस्तार हुआ है, रूपयेमें नौ छटाक चावल विक्री आरंभ हो गया है। प्राचीन कालमें भारतवर्षके धनी और राजा लोग यज्ञमें सैकड़ों मन गायके धी की आहूति प्रदान करते थे और उस समय सैकड़ों मन गायका धी संप्रह कर घरमें रखते थे। आजकल न तो वे यज्ञ ही हैं और न शुद्ध धी ही। यज्ञ बन्द होनेसे यज्ञकी सामग्रियोंका उत्पादन भी रुक जाता है—इस तथ्यको वैज्ञानिक समझ नहीं पाते हैं। यज्ञ, दान, तपस्याका किसी दिन भी परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ, दान और तपस्या ही मनुष्यको पवित्र करती है। पापमय भौतिक सभ्यताके युगमें यज्ञ, दान और

तपस्याका शुद्ध सात्त्विक जीवन रजस्तमोगुणके अधीन हो गया है। समाजमें बहुमुखी विश्वव्यलता प्रवेश कर मनुष्यके जीवनको अस्त-व्यस्त कर रही है। यही पापमय जीवन है। हमने अपने बाल्यकालमें देखा था कि गरीबसे गरीब घरोंमें भी दस-बीस मनका गल्ला संप्रहीत रहता था। आज घरोंमें एक साथ दस-बीस सेर भी अनाज नहीं दिखलायी पड़ता है। फिर भी विराट-विराट और विलास पूर्ण घर बनते हैं, घरमें मोटरें हैं, बाहरी साज-सज्जाओंकी भरमार है तथा इनकी रक्षा आदिमें न जाने उन्हें कितना पाप करना पड़ता है। फिर भी आराम नहीं है, शान्ति नहीं है।

**साधारणतः** सभीको गीताके अनुसार भी यह समझना आवश्यक है कि जितनी भी चेष्टा क्यों न हो, जगत् किसी भी दिन सुखका घर नहीं हो सकता है।

हम जितनी भी परिकल्पनाएँ क्यों न प्रस्तुत करें, हमारे तात्कालिक सुखमय जीवनका अन्त हो जाता है— हमारे सपनेका सुन्दर-सुहावना सुखका घर जल कर भस्मके रूपमें बदल जाता है। हम पद-पद पर अभिज्ञता प्राप्त करके भी मूर्ख बने रहते हैं—पापमय जीवन से निवृत्त नहीं होते। सूर्यकी किरणोंके अपव्यवहारकी रक्षा करनेमें हम जो दुर्लभ मनुष्य-जीवनका अपव्यवहार कर रहे हैं—इसे न समझना ही मायाकी विचित्र पहेली है। जन्म-जन्मातरोंके पापोंसे मुक्तिका उपाय अनुसंधान करना ही मनुष्य जीवनका एक मात्र कर्त्तव्य है। जो अपने इस पुनीत कर्त्तव्यको अवहेला करते हैं, वे आत्मधाती हैं।

( क्रमशः )

त्रिदिवस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज

## जैव धर्म अठाइसवाँ अध्याय रस-विचार

दूसरे दिन विजयकुमार और ब्रजनाथ दोनों नियमित समय पर श्री गोपाल-गुरु गोस्वामीके चरणोंमें उपस्थित हुए और साष्टांग दण्डवत-त्रणाम कर पिछले दिनके स्थिर किये हुए विषयके सम्बन्धमें जिज्ञासा करने लगे। ब्रजनाथने पूछा—‘प्रभो ! विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन सबके सम्बन्धमें आपने जो कुछ बतलाया है उससे तो ऐसा लगता है कि ये सभी भाव हैं। फिर इनमें स्थायीभाव कहाँ है ?’

गोस्वामी—‘ये सभी भाव हैं—यह ठीक है, परन्तु इनमें जो भाव हास्य आदि अविरुद्ध एवं

कोध आदि विरुद्ध—दोनों प्रकारके भावोंको अपने अधीन कर स्वयं प्रधान बन कर अन्यान्य भावोंके सम्राटके रूपमें विराजमान रहता है, उसका नाम ही स्थायीभाव है। भक्तके हृदयमें आश्रयगत कृष्णरति ही वह स्थायीभाव हैं। देखो, सामधी-वर्णनके प्रसंगमें इस आश्रयकी गणना विभावके अन्तर्गत ‘आलस्वन में की गयी थी, वही भाव दूसरे भावोंको अपने अधीनकर उनमेंसे कुछ को रसके हेतुरूपमें और कुछ को रसके सहायकके रूपमें प्रहण कर स्वयं आस्वादनरूप होकर भी आस्वादभाव धारण करता है। अन्यन्त गूढ़रूपसे अनुशीलन द्वारा स्थायीभाव

को दूसरे भावोंसे अलग कर विचार करो। स्थायी-भावरूप रति मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारकी होती है—मुख्य रति और गौणरति।'

ब्रजनाथ—‘मुख्यरति किसे कहते हैं?’

गोस्वामी—‘भावभक्तिके प्रसंगमें जिस शुद्धसत्त्व विशेषस्वरूप रतिकी बात बतलायी गयी है, वही रति मुख्य है।’

ब्रजनाथ—‘हम जब साधारण आलंकारशब्द पढ़ते थे, उस समय रतिके सम्बन्धमें जो मेरी धारणा बनी थी, वह आज कान्तके विश्वान्त विचारोंको सुन वर दूर हो गयी। आज मैं यह अच्छी तरह समझ गया कि जीवके शुद्धस्वरूप जो आत्मगत मनोबृत्ति है, उसीके ऊपर भागबत रस उद्दित होता है। साधारण आलंकारिकोंने जिस रतिका उल्लेख किया है या वे जिस रतिका उल्लेख करते हैं, वह वे बल बद्धजीवके जड़ शरीर और क्लिंग (मूल) शरीरगत मन और चित्तको आश्रय कर आस्थादित होती है। अब मैं यह भी समझ रथा कि आप जिस गमकी व्याख्या कर रहे हैं, वही रस शुद्धजीवका सर्वस्व धन है और बद्धजीव उस रसको ह्लादिनीकी कृपासे किञ्चितमात्रामें अनुभव करता है। अब कृपया यह बतलाइये, कि शुद्धरति अर्थात् मुख्य रति कितने प्रकारकी होती है?’

ब्रजनाथका तत्त्व बोध देख कर गुरु गोस्वामीकी अँखोंसे आनन्दाभ्युआओंकी धारा बहने लगी। वे ब्रजनाथको आलिंगन कर बोले—‘तुम जैसा शिष्य पाकर आज मैं धन्य हो गया। सुनो, मुख्यरति दो प्रकारकी होती है—स्वार्थी मुख्य रति और परार्थी मुख्य रति।’

ब्रजनाथ—‘स्वार्थी मुख्य रति किसे कहते हैं?’

गोस्वामी—‘स्वार्थी रति अविरुद्ध भावसमूह द्वारा अपनेको पुष्ट करती है एवं विरुद्ध भाव द्वारा उसको ग्लानि (खेद या अनुत्साह) पैदा होती है।’

ब्रजनाथ—‘परार्थी रति किसे कहते हैं?’

गोस्वामी—‘जो रति स्वयं संकुचित भावसे अविरुद्ध और विरुद्ध दोनों प्रकारके भावोंको प्रहण

करती है, उसे परार्थी मुख्य रति कहते हैं। मुख्य-रतिका और भी एक प्रकारका विभाग है।’

ब्रजनाथ—‘कौन सा?’

गोस्वामी—‘मुख्यरति पाँच भागोंमें विभक्त है—शुद्ध, दास्य, सत्य, वात्सल्य और मधुर। जिस प्रकार एक हा सूर्य स्फटिक आदि भिन्न-भिन्न पात्रोंके ऊपर प्रतिविभिन्नत होने पर भिन्न-भिन्न प्रकारके देखे जाते हैं, उसी प्रकार स्थायी भावके पात्र भेदसे वैशिष्ट्य लक्षित होता है।’

ब्रजनाथ—‘शुद्धरतिकी व्याख्या कीजिए।’

गोस्वामी—‘शुद्धरति तीन प्रकारकी होती है—सामान्य, स्वच्छ और शान्त। साधारण लोगों एवं वालिकाओंकी कृपणके प्रति जो रति होती है, उसे सामान्या कहते हैं। नाना प्रकारके भक्तोंके संगमें उनके-उनके मतानुसार पृथक-पृथक साधन द्वारा साधक भी विभिन्न प्रकारके होते हैं। इसलिये यहाँ पूर्वोक्त शुद्धारति स्वच्छा कही गयी है। साधकके विभिन्नत्वका कारण यह है कि साधकका जिस प्रकार के भक्तका संग प्राप्त होता है, साधककी रति स्फटिक मणिकी भाँति उसी प्रकारका भाव धारण कर लेती है। इसलिये इसका नाम स्वच्छा रति है। इस रतिको प्राप्त हुए व्यक्ति कृपणको कभी ‘प्रभु’ कह कर स्तव करते हैं, कभी ‘मित्र’ कह कर परिहास करते हैं, कभी ‘पुत्र’ मान कर पालन-पोषण करते हैं, कभी ‘कान्त’ कह कर उल्लसित होते हैं और कभी ‘परमात्मा’ कह कर ध्यान भी करते हैं। समगुणसे युक्त होकर अपने मनसे विषयवासनाको निकाल देने पर जो मनका आनन्द होता है, उसे समस्वभाव कहते हैं। ऐसे समस्वभाववाले पुरुषोंकी परमात्म ज्ञानसे कृपणके प्रति जो रति होती है, उसे शान्तरति कहते हैं। ये तीनों शुद्धरतियाँ केवल और संकुला भेदसे दो प्रकार की होती हैं। जहाँ केवल एक रति कार्य करती है—दूसरी रतियोंका नंधभी नहीं रहता तो उसको केवला कहते हैं। ब्रजानुग रसाल आदि भूत्योंमें, श्रीदाम आदि सखाओंमें तथा नन्द आदि गुरुजनोंमें केवला-रति होती है। जहाँ दो अथवा अधिक रतियाँ एकत्र

मिलती हैं उसे संकुला रति कहते हैं। उद्धव, भीम और ब्रजेश्वरीकी धात्री मुख्यराकी रति संकुला कहलाती है।'

ब्रजनाथ—‘पहले मेरी ऐसी धारण थी कि ब्रजानुग भक्तोंमें शुद्धारति नहीं होती। परन्तु अब देख रहा हूँ कि ब्रजमें किंचिन्मात्रामें शान्तरति भी होती है। जह अलंकारिकोंने शान्त धर्ममें रतिका अभाव माना है। परन्तु परब्रह्म-रतिमें वह अवश्य ही लक्षित होती है। अब दास्य रतिका लक्षण बतलानेकी कृपा करें।’

गोस्वामी—‘कृष्ण प्रसु हैं’ और ‘मैं दास हूँ’—इस बुद्धिसे जिस आराध्यस्थात्मिक रतिका उदय होता है, उसे दास्यरति या प्रीति कहते हैं। जिनकी इसमें (आराध्यके प्रति) आसक्ति होती है, उनकी अन्य वस्तुओंमें प्रीति नहीं रहती।’

ब्रजनाथ—‘सख्यरतिका लक्षण क्या हैं?’

गोस्वामी—‘श्रीकृष्णको अपने समान समझकर जो उनके प्रति हड़ विश्वास करते हैं, उनकी रति सख्यरति कहलाती है। सख्यरतिमें खुल कर हास्य-परिहास्य हुआ करता है।’

ब्रजनाथ—‘वात्सल्यरतिका लक्षण बतलानेकी कृपा करें।’

गोस्वामी—‘कृष्णके गुरुजनोंकी श्रीकृष्णके प्रति जो अनुग्रहमयी रति होती है, उसे वात्सल्य-रति कहते हैं। इसमें लालन-पालन, मांगल्यक्रिया, आशीर्वाद और चिकुक (ठोड़ी) स्पर्श आदि क्रियाएँ होती हैं।’

ब्रजनाथ—‘कृपाकर मधुर-रतिका लक्षण बतलाइये।’

गोस्वामी—‘मृगनयनी ब्रजाङ्गनाओं और कृष्णके बीच जो स्मरण-दर्शन आदि अष्टुविधि संभोगरूपा जो रति होती है, उसे मधुर-रति कहते हैं। इसमें कटाक्ष, भ्रुद्दोप, प्रियवाणी और हास्य आदि कार्य होते हैं। यह रति शान्तसे लेकर मधुर तक उत्तरोत्तर आस्वादशालिनी एवं उल्लासमयी होती है तथा भक्त भेदसे नित्य विराजमान रहती है। संक्षेपमें पाँच प्रकारकी मुख्यरतिका लक्षण बतलाया।’

ब्रजनाथ—‘अब अप्राकृत-रत्सम्बन्धिनी गौणी-रतिशी व्याख्या कीजिए।’

गोस्वामी—‘संकोचमयी रति द्वारा विभाव अर्थात् आलम्बनजन्य जो भाव-विशेष स्वयं प्रकाशित हो, उसे गौणरति कहते हैं। हास्य, विस्मय, उत्साह शोक, क्रोध, भय और जुगुप्ता (निन्दा) —ये सात गौण-भाव हैं। प्रथम छः गौण-भावोंमें कृष्णभाव संभव है। शुद्धरतिके उदय होने पर भक्तजनोंके जड़ शरीरमें तथा शरीरके कार्यमें जो जुगुप्ता अर्थात् निन्दाका उदय होता है, रसके विचारसे वही सप्तम रति है। शुद्धसत्त्वविशेषरूप (स्वार्थी) रतिसे हास्य आदि भाव भिन्न होने पर भी परार्थी-मुख्यरतिके योग हेतु इनमें अर्थात् हास्य आदिमें भी रति-शब्द-का प्रयोग होता है। जैसे हास्य-रति, विस्मय-रति इत्यादि। हास्यादि गौणीरति किसी समय किसी भक्तमें स्थायित्व लाभ करती है, परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इसलिये ये सामयिक और अनियतधारा (जो धाराप्रवाह रूपसे प्रकाशित नहीं होती) के नामसे व्यक्त हैं। किसी-किसी स्थलमें ये प्रबल होकर शुद्ध सहज-रतिका भी तिरस्कार कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं।’

ब्रजनाथ—‘जड़ीय अलंकारमें शृङ्गार, हास्य, करण—आदि आठ प्रकारके भाव कहे गये हैं। अब मैं समझ गया कि भावका वैसा विभाव के बल तुच्छ नायक-नायिकाके जड़ीय रसमें ही शोभा पा सकता है। चिन्मय ब्रजरसमें उसकी स्थिति नहीं है। चिन्मय रसमें केवल शुद्ध आत्माकी ही क्रिया है, वहाँ मनकी कोई क्रिया नहीं पहुँच पाती। अतएव महाजन अर्थात् भक्त महात्माओंने रतिको स्थायी भाव स्थिर कर उसके मुख्य भावको पाँच प्रकारके मुख्य रसोंमें तथा गौणभावको सात प्रकारके गौण-रसोंमें विभक्त किया है—यही विभाग समीचीन है। अब कृपाकर हास्यरतिका लक्षण बतलाइये।’

गोस्वामी—‘वाक्य, वेश और चेष्टा आदिकी विकृतिसे चित्तको विकाशमारी हास्यरतिका उदय होता है। इसमें नेत्रविकाश, नासिका, होठ और

सिरमें स्पन्दन आदि होते हैं। यह हँसी कृष्ण-सम्बन्धी चेष्टासे हैं। उत्पन्न होती है और स्वयं संकोच-मयी रतिद्वारा अनुगृहीत होकर हास्यरति कहलाती है।'

ब्रजनाथ—'विस्मय रतिका लक्षण बतलाइये।'

गोस्वामी—'किसी अलौकिक विषयको देखकर चित्तका जो विकार होता है, उसे विस्मय कहते हैं। यह विस्मय कृष्ण-सम्बन्धी होने पर विस्मयरति कहलाती है। इसमें आँखें फाढ़कर देखना, वाह ! वाह ! आदि साधुवाद और पुलक आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।'

ब्रजनाथ—'उसाह रतिका क्या लक्षण होता है ?'

गोस्वामी—'साधुजन द्वारा प्रशंसित किसी बड़े कार्यमें दृढ़मनकी जो शीघ्रतातिशीघ्र आसक्ति होती है, उसे उसाह कहते हैं। इसमें शीघ्रता, धैर्यत्याग और उद्यम आदि लक्षित होते हैं।'

ब्रजनाथ—'कोधरतिका लक्षण क्या है ?'

गोस्वामी—'प्रतिकूल भावद्वारा चित्तमें जो जलन पैदा होती उसे कोध कहते हैं। इसमें कठोरता, भ्रकुटी तन जाना, आँखें लाल हो जाना आदि विकार अनुभूत होते हैं।'

ब्रजनाथ—'भयरतिका लक्षण क्या है ?'

गोस्वामी—'किसी भयझुकर दृश्यको देखकर चित्त की अत्यधिक चंचलताका नाम भय है। इसमें आत्म-गोपन, हृदय-शुष्कता और भागनेकी चेष्टा देखी जाती है।'

ब्रजनाथ—'जुगुप्सा-रतिका लक्षण बतलाइये।'

गोस्वामी—'निनिदित-शियोंके दर्शन-भवण या रमरण आदि से जो संकोच (लज्जा) होता है, उसे जुगुप्सा कहते हैं। इसमें थू-थू, निकलना मुख टेड़ा करना एवं छिः-छिः आदि करना लक्षण प्रकाशित होते हैं। ये सब कृष्णके अनुकूल होने पर ही रति हैं, अन्यथा ये केवल मानव चित्तके विकार मात्र हैं।'

ब्रजनाथ—'भक्ति रसमें कुल कितने भाव हैं ?'

गोस्वामी—'आठ स्थायीभाव, तीनों संचारी भाव और आठ सात्त्विक भाव कुल मिलाकर ४६

भाव हैं। ये भाव-समूह यदि प्राकृत होते हैं, तब ये त्रिगुणोत्तम सुख-दुःखमय होते हैं और यदि ये श्रीकृष्ण-सुरणमय होते हैं, तब अप्राकृत और त्रिगुणातीत प्रौढ़ानन्दमय होते हैं और तो क्या विपाद भी कृष्ण-सम्बन्धी होने पर परम सुखमय हुआ करता है। श्रीरूपगोस्वामीने कहा है कि कृष्ण और कृष्ण-प्रियादि आलम्बनके रूपम रतिके कारण हैं। स्तम्भ आदि रतिके कार्य हैं, निर्बंद आदि रतिके सहायक हैं। रसोद्बोधनके समय इनकी संज्ञा कारण, कार्य और सहायक न होकर विभाव आदि होती है। रति विषय-आस्वादनकी योग्यता विभावित करती है अर्थात् उत्पन्न करती है। इसलिये परिडतजन इसे 'विभाव' कहते हैं। उस विभावित रतिको विस्तृत कर अनुभाव (प्रकाश) करानेके कारण नृत्य आदि-अनुभाव' कहा गया है। उस विभावित और अनुभावित रतिको—जो निर्बंद आदि भावोंका संचार करा कर विचित्र बनाती है—उसे 'संचारी' भाव कहते हैं। सात्त्विक भाव-समूह भी सत्त्वबोधक कार्य कराते हैं, इसलिये उनको 'सात्त्विक' भाव कहते हैं। भगवत्सम्बन्धी कार्य और नाट्य आदि शास्त्रोंमें पारगत भक्तजन सेवाको ही विभावका आदि कारण बतलाते हैं। वास्तवमें ये रतिके अन्तर्गत भावसमूह आचिन्त्यस्वरूपविशिष्ट महाभक्तिविलासरूप हैं। महाभारत आदि शास्त्रोंमें इन्हें तर्कसे परे बतलाया गया है। महाभारतमें ऐसा स्थिर सिद्धान्त किया गया है कि जो भाव-समूह चिन्ताम परे हैं, उनके सम्बन्धमें तर्क करना उचित नहो। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व ही अचिन्त्य-तत्त्व हैं। अचिन्त्यरस-तत्त्व मनोहरा रति ही कृष्णके रूप आदिको विभावित करवा कर उन विभाव आदिको साथ लेकर अपनेको पुष्ट करती है। माधुर्य-आदिके आश्रयस्वरूप कृष्णके रूप आदिको रति प्रकाशित करती है एवं दूसरी तरफ कृष्णरूप आदि अनुभूत होकर रतिको विस्तृत करते हैं। अतएव विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भाव-समूह रतिके सहायक हैं एवं रति भी उन भावोंका सहायक है।'

ब्रजनाथ—‘कृष्णरति और विष्वरतिमें क्या अन्तर है?’

गोस्वामी—‘विष्वरति लौकिकी होती है। परन्तु कृष्णरति अलौकिकी होती है। लौकिकीरति संयोगमें सुखमयी और वियोगमें नितन्त दुःखदायी होती है। कृष्णरति भगवान्‌के प्रेमी व्यक्तियोंमें युक्त होने पर रस हो पड़ती है एवं संभोग सुख उदय कराती है। वियोगमें अर्थात् विप्रलंभमें वही रति एक अत्यन्त अद्भुत आनन्द-विवर्तका रूप धारण करती है। श्रीमन्महाप्रभु और रायरामानन्द-संवादमें रायरामानन्दजीने स्वरचित् “पहिलहि राग नयन भंग भेल ।” (क)—इस पद्ममें वियोगके अद्भुतानन्द ‘विवर्त’ की व्याख्याकी है। उसमें आर्तिभावका आभासमात्रपाया जाता है, परन्तु वह परम सुखमय होता है।

ब्रजनाथ—‘तार्किकजन रसको प्रकाश्य खण्ड-वस्तु कहते हैं, उसका उत्तर क्या है?’

गोस्वामी—‘जडरस वस्तुतः प्रकाश्य खण्ड वस्तु है; क्योंकि सामग्रीके मिलनसे स्थायीभाव रसके रूपमें व्यक्त होता है, इसके पहले वह अव्यक्त रहता है। परन्तु अप्राकृत चिन्मयरसके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। सिद्धावस्थामें वह नित्य, अखण्ड और स्वप्रकाश होता है। साधनावस्थामें वही रस प्राकृत जगतमें प्रकाशितरूपमें अनुभूत होता है। लौकिक रस वियोगमें नहीं रहता। परन्तु अलौकिक रस संसार वियोग दशामें अधिक शोभाको प्राप्त होता है। हादिनी-महाशक्तिके विलासरूप यह रस परमानन्दतादात्म्यलाभ किये हुए है। अर्थात् परमानन्द ही स्वयं रस है। यह तर्कसे अतीत है, क्योंकि अचिन्त्य है।’

ब्रजनाथ—‘अप्राकृत तत्त्वमें रस कितने प्रकारके हैं?’

गोस्वामी—‘रति मुख्य रूपमें एक है और गौण-रूपमें सात हैं। अतएव कुल मिलाकर रति आठ प्रकारकी है। उसी प्रकार मुख्य रस पाँच प्रकारके

होते हुए भी एक है एवं गौण रस सात प्रकारके हैं। अतएव रस भी आठ प्रकारके हैं।’

ब्रजनाथ—‘आठोंका कृपया नाम बतलाइये। जितना अवण करता हूँ, अवण करनेकी इच्छा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।’

गोस्वामी—‘श्रीरूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु ( द: ५, ल० ६४ ) में कहते हैं—

मुख्यस्तु पञ्चाव शान्तः प्रीतः प्रेयोश्च वस्त्वः ।

मधुरश्चैत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुसमाः ॥

हास्याऽद्भुतस्तथा वीरः करणो रीढ्र इत्यपि ।

भयानक सबीभस्त्र इति गौणश्च सप्तमा ॥

—मुख्य भक्तिरस पाँच हैं—शान्त, प्रीत, प्रेय, वस्त्वः और मधुर। इन पाँचोंमें पहलेको दूसरेसे, दूसरेको तीसरेसे, तीसरेको चौथेसे और चौथेको पाँचवेंसे क्रमशः कनिष्ठ समझना चाहिए। गौणभक्तिरस भी सात प्रकारके हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करण, रीढ्र, भयानक और विभस्त्र।

ब्रजनाथ—‘चिन्मय रसमें भाव शब्दका अर्थ क्या है?’

गोस्वामी—‘चिद् विषयमें अनन्य बुद्धियुक्त पण्डितगण भावनाके विषयमें चित्संस्कार द्वारा अपने चित्तमें जिस भावको उद्य कराते हैं, वही इस रस तंत्रमें भाव शब्दवाच्य होता है। मैंने पहले ही कहा है कि, भाव दो प्रकारके हैं—चिन्त्यभाव और अचिन्त्यभाव। चिन्त्यभावोंके विषयमें तर्क चल सकता है, क्योंकि बद्धजीवके बद्ध मनमें जो समस्त भाव उद्य होते हैं, वे सभी जड़ धर्म-प्रसूत होते हैं। इसलिये इनके विषयमें चिन्ता की जा सकती है। ईश्वरके विषयमें भी जो जड़भाव होते हैं—वे चिन्त्यभाव हैं। वास्तवमें ईश्वर सम्बन्धी भाव चिन्त्य नहीं होते; क्योंकि ईश्वर-तत्त्व जड़से परे है। परन्तु ईश्वर-तत्त्व जड़तीत है एवं उनमें चिन्त्यभाव नहीं होते, इसलिये ईश्वर तत्त्वमें कोई भाव ही नहीं है—ऐसा सोचना भूल है। ईश्वर-सम्बन्धमें समस्त भाव हैं,

(क) श्री चैतन्यचरितामृत-मध्य द. म. प: द्वाष्टव्य ।

परन्तु जह मनकी चिन्तासे अतीत होनेके कारण अचिन्त्य है। इस अचिन्त्य भावको हृदयमें लावर अनन्यबुद्धिके साथ अनुशीलन करते-करते उन अचिन्त्य भावोंमेंसे एक भावको स्थायी जान कर दूसरे-दूसरे अचिन्त्य भावोंको सामग्रीरूपमें बरण करो। ऐसा होनेसे तुममें नित्यसिस अलखड़ रस उदय होगा।'

ब्रजनाथ—'प्रभो ! इस विषयमें गाढ़ संस्कार किसे कहते हैं ?'

गोस्वामी—'आशा ! सांसारिक विषयोंमें आसक्त होकर जन्म जन्मान्तरों तक कर्मचक्रमें भटकते-भटकते प्राप्तन ( पूर्वकालीन ) और आधुनिक—इन दो प्रकारके संस्कारोंसे तुम्हारा चित्त गठित हुआ है। तुम्हारी विशुद्ध आत्मसत्त्वमें जो विशुद्ध चित्तवृत्ति है, वह इस समय विकृत हो गयी है। अब इस समय तुम्हारी पूर्व-पूर्व सुकृतियोंके प्रभावसे प्राप्त सत्सङ्गमें भजन प्रक्रिया द्वारा जो संस्कार बन रहा है, उसके द्वारा तुम्हारा विकृत संस्कार दूर हो जाने पर तुम्हारा यथार्थ संस्कार उदय होगा। यह संस्कार जितना ही गाढ़ होगा, अचिन्त्य-तत्त्व उतने ही अधिक रूपमें तुम्हारे हृदयमें सुरुगण होगा। इसीको गाढ़-संस्कार कहते हैं।'

ब्रजनाथ—'मुझे यह जाननेकी इच्छा हो रही है कि रसतत्त्वमें किसका अधिकार है ?'

जो पूर्वोक्त क्रमानुसार गाढ़-संस्कार द्वारा अचिन्त्य भावोंको अपने हृदयमें ला सकते हैं, केवल वे ही साधक रस-तत्त्वके अधिकारी हैं। दूसरोंका इसमें अधिकार नहीं है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

व्यतीत्य भावनावस्था यश्चमत्कारभावभूः ।

द्विदि सत्त्वोऽज्ञवते वादं स्वदते स रसो मतः ॥ (क)

(भ. र. पि. द: ४ ल. ७५)

(क) भावना-(चिन्ता) पथको पार कर परम चमत्कारके आवार स्वरूप जो स्थायी भाव शुद्ध-सत्त्व परिमाणित उत्तराख दृदयमें आवश्यादित होता है, उसे 'रस' कहते हैं।

(ख) द्वे भगवद्गीतिके मर्मज्ञ रसिक भक्तजन ! श्रीमद्भागवत नामक वेदकल्पतरुके सुपक्षव फलका आप जोग मुक्त्वावस्थामें भी पुनः-पुन धान करते रहें।

ब्रजनाथ—'इस रसके अधिकारी कौन हैं ? जिस प्रकार अनाधिकारीको हरिनाम देना अपराध है, उसी प्रकार अनधिकारी व्यक्तिके निकट रस विषयकी व्याख्या करना भी अपराध है। प्रभो, कृपा कर हम दीन-हीनोंको इस विषय में सतर्क किया जाय ।'

गोस्वामी—'जो वैराग्य शुद्ध भक्तिके प्रति उदासीन होता है, उसे फल्गु वैराग्य कहा जा सकता है। उसी प्रकार जो ज्ञान शुद्धभक्तिके प्रति उदासीन होता है, उसे शुष्क ज्ञान कहा जा सकता है। ये फल्गु-वैरागी, शुष्कज्ञानी, जह तर्कनिष्ठ पुरुष, कर्ममीमांसा और शुष्कज्ञानपर्वताले उत्तरमीमांसाके प्रशंसक पुरुष, भक्तिके आस्वादनसे वहिमुख पुरुष, केवलाद्वैतवादीरूप जड़मीमांसक पुरुष—ये सब व्यक्ति रस विषयमें अनधिकारी हैं। रसिक भक्तजन इन अनधिकारी व्यक्तियोंसे कृष्णभक्तिरसकी ठीक उसी प्रकार रक्षा करेंगे, जिस प्रकार चोरोंसे महानिधिकी रक्षा की जाती है ।'

ब्रजनाथ—'आज हम धन्य हूए। हम आपके श्रीमुखकी आज्ञाका सर्वतोभावेन पालन करेंगे।'

विजयद्वामार—'प्रभो ! मैं सर्व-साधारणमें श्रीमद्भागवतका पाठ करता हूँ। उमसे जो अर्थ उपार्जन होता है, उससे अपने संसारका निर्वाह करता हूँ। परन्तु श्रीमद्भागवत तो रस-प्राप्त है। क्या इसे सर्व-साधारणमें पाठकर धन-संप्रदाह करनेसे कोई अपराध होता है ?'

गोस्वामी—'आहा ! श्रीमद्भागवत प्रथ सर्वशास्त्र शिरोमणि और निगम शास्त्रके फलस्वरूप हैं। प्रथम स्कन्धके तृतीय श्लोकमें जैसा निर्देश दिया गया है, वैसा ही करना चाहिए। "मुहुरहो रसिका भुवि भावुकः ।" (भा: १।१।३) (ख) इस श्लोकमें केवल भावुक या रसिक भक्तोंके अतिरिक्त किसीको भी श्रीमद्भागवत-रस पान करनेका अधिकारी नहीं माना है। आशा,

इस व्यवसायको तुरन्त छोड़ दो । तुम रस-पिपासु हो । रसके प्रति अब और अपराध न करो । 'रसो वैः सः'—(तै० आ० २०७)—इस वेद वाणीमें ऐसा कहा गया है कि रस ही कृष्णस्वरूप है । जीविका-निर्वाह करनेके लिये दूसरे-दूसरे अनेक व्यवसाय हैं, तुम उन्हीके द्वारा जीविकाका निर्वाह करो । सर्वसाधारणमें श्रीमद्भागवतका पाठकर अर्थ-संग्रह अब मत करना । हाँ, यदि कहीं रसिक ओता मिल जाय, तो चिना बेतन या दक्षिणा लिये ही उसे परमानन्दसे श्रीमद्भागवत अवण करा सकते हो ।'

विजय—'प्रभो ! आज आपने एक भयंकर अपराधसे मेरी रक्षा की । आगे मैं ऐसा न करूँगा । परन्तु मैं पहले जो अपराध कर चुका हूँ, उसवा क्या होगा ?'

गोस्वामी—'वे अपराध दूर हो जायेंगे । सरल हृदयसे रसके शरणागत होने पर, रस तुमको अवश्य ही ज्ञान करेंगे । तुम इसके लिये कोई चिन्ता न करो ।'

विजय—'प्रभो ! किसी नीच वृत्तिद्वारा अपने शरीरका पोषण कर लूँगा, परन्तु अनधिकारीके निकट रस-कीर्तन न करूँगा एवं उनमें अर्थ लेकर भी रस कीर्तन न करूँगा ।'

गोस्वामी—'बाबा ! तुम लोग धन्य हो ! कृष्णने तुम दोनोंको आत्मसात् कर लिया है, अन्यथा भक्ति विषयमें ऐसी हृदया संभव नहीं । तुम लोग श्रीनवद्वीप धामवासी हो । श्रीश्रीगौर हरिने तुम लोगोंको सर्वशक्ति प्रदान की है ।'

## श्रीश्रीव्यासपूजा आदान

श्रीश्रीगुरु गौराङ्गी जयतः

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति

श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ

पो०-चुँचुड़ा ( हुगली ) प० बंगाल

१५ जनवरी १९६०

प्रिय महानुभाव,

श्रीश्रीव्यासाभिनन्द जगद्गुरु नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८ श्री श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज एवं उनके मनोभीष्टपूरक तत्पार्दवर श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके संस्थापक और नियामक आचार्य ॐ विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज की आविर्भाव-तिथि-पूजाके उपलक्ष्यमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके उद्योगसे उपरोक्त ठिकाने पर आगामी २ फाल्गुन, १५ फरवरी, सोमवारसे ४ फाल्गुन, १७ फरवरी, बुधवार तक तीन दिन श्रीव्यासपूजा और उसके अन्तर्गत पूजा-पंचक अर्थात् श्रीकृष्ण-पंचक, व्यास-पंचक, मध्वादि आचार्य-पंचक, सनकादि-पंचक, श्रीगुरु-पंचक एवं तत्त्व-पंचककी पूजा तथा होम आदिका विराट अनुष्ठान होगा । प्रति दिन हरि-संकीर्तन, प्रवचन, भाषण, अंजलि-प्रदान आदि इस महोत्सवके प्रधान अङ्ग हैं ।

प्रार्थना है, आप धर्म-प्राण सज्जन महोदयगण अपने इष्ट-मित्रों तथा बन्धुजनोंके साथ पधार-कर हमें उत्साहित और परमानन्दित करते हुए भक्ति-उन्मुखी सुकृति अर्जन करें ।

निवेदक—

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सभ्यवृन्द